वट-पीपल

वट-पीपल

लेखक
रामधारी सिंह दिनकर

उदयाचल
आर्यकुमार रोड, पटना – ४

समर्पण

क्रान्तिवीर, साहित्यिक,
सुधी और सुहृद्,
श्री मन्मथनाथ जी गुप्त के
योग्य

पटना
१९६१ ई०

— दिनकर

पुण्यश्लोक जायसवालजी

(१)

स्वर्गीय डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल, वैसे तो, मिर्जापुर के थे, किन्तु, जन्म उनका सन् १८८१ ई० में झालदा में हुआ था, जो जगह पहले बिहार में थी, लेकिन, राज्यों के पुनः संगठन के बाद, अब बंगाल में है। उन्होंने आक्सफोर्ड से इतिहास में एम० ए० किया था तथा इंगलैंड में उन्होंने बैरिस्टरी भी पास की थी। देश लौटने के बाद उन्होंने कानून की प्रैक्टिस सन् १९०७ ई० में कलकत्ता हाईकोर्ट में शुरू की। किन्तु, उनके इतिहास के अद्भुत ज्ञान के कारण, शीघ्र ही, सर आशुतोष मुखर्जी ने उन्हें विश्वविद्यालय में बुला लिया जहाँ वे, शायद, साल भर से अधिक नहीं टिक सके। जायसवालजी, आरंभ से ही, तेजस्वी देश-भक्त थे, अतएव, अंगरेजों ने उनका नौजवानों के बीच रखा जाना पसन्द नहीं किया। पीछे, जब पटना हाईकोर्ट की स्थापना हुई, जायसवालजी पटने आ गये और वहीं कानून की प्रैक्टिस और इतिहास की साधना करने लगे।

कानून का आश्रय जायसवालजी ने केवल जीविका के लिए लिया था। उनका हृदय और, प्रायः, समग्र अस्तित्व, वस्तुतः, इतिहास को अर्पित था। भारत के प्राचीन इतिहास की बहुत-सारी खोज उन्नीसवीं सदी में की जा चुकी थी, किन्तु, जायसवालजी के अनुसन्धानों ने इतिहास के क्षेत्र में क्रान्ति मचा दी। अपने समय में वे, शायद, संपूर्ण संसार के सब से बड़े अनुसंधानी थे। यही नहीं, प्रत्युत्, अनुसन्धान के क्षेत्र में उनकी दृष्टि द्रष्टा की दृष्टि थी। खोज और संबुद्धि (इनटुइशन) के बल पर उन्होंने जो अनुमान लगाये, वे आगे चल कर सत्य प्रमाणित हुए और अपने जीवन-काल में ही उन्होंने देख लिया कि देश-विदेश के विद्वान् अपनी, पहले की लिखी, पुस्तकों को फिर से लिख रहे हैं। विंसेंट स्मिथ ने भारत का जो इतिहास लिखा था, उसके, बाद के संस्करणों में बराबर कुछ-न-कुछ परिवर्तन होता गया, क्योंकि जायसवालजी के अनुसन्धानों का क्रम जारी था और संसार के सामने, बराबर, वे कुछ ऐसे तथ्य रखते जा रहे थे जो बिलकुल नूतन और अखंडनीय थे। स्मिथ के इतिहास का अन्तिम बार संशोधन श्री ई०

एडवर्ड ने किया। उसकी भूमिका में उन्होंने यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि इतने बड़े संशोधन की आवश्यकता इसलिए हो गयी कि जायसवालजी ने जो बातें खोज निकाली हैं, वे पहले किसी को मालूम नहीं थीं।

जायसवालजी का, प्राय:, अधिक समय खारवेल के शिलालेखों के पढ़ने में चला गया। इस सिलसिले में उन्होंने जो अनुसन्धान किये, उन्हीं के परिणाम-स्वरूप मौर्य और गुप्त वंशों के बीच का इतिहास यत्किञ्चित् निर्मित हो सका है। किन्तु, उनका सबसे प्रमुख काम हिन्दू-राज्यतन्त्र का अनुसन्धान है। सच पूछिये तो भारतीय इतिहास के एतद्विषयक अध्ययन के वे आदि प्रवर्तक हुए हैं। डाक्टर डी० आर० भण्डारकर ने अपने मणीन्द्रचन्द्र नन्दी व्याख्यानमाला में कहा था कि भारतीय राज्यतन्त्र का अध्ययन करने की बात, सब से पहले, जायसवालजी को सूझी थी और उन्होंने ही सन् १९१३ ई० में माडर्न रिव्यू में इस विषय पर पहला लेख लिखा था। सन् १९२५ ई० में आक्सफोर्ड के प्रोफेसर टामस बोडेन ने भी इस कार्य के लिए जायसवालजी की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी।

जायसवालजी हिन्दी के बहुत बड़े प्रेमी और पक्षपाती थे। जब वे इंगलैण्ड में थे, तभी से उनके हिन्दी लेख यहाँ पत्रों में छपने लगे थे। सरस्वती में उनकी हिन्दी-कविताएँ भी निकली थीं। जब वे कलकत्ता छोड़ कर पटने आये, उन्होंने साप्ताहिक पाटलिपुत्र का कुछ महीने संपादन भी किया था। उनका देहावसान ४ अगस्त, सन् १९३७ ई० को हुआ। उससे चार साल पूर्व, यानी, सन् १९३३ ई० में उन्होंने बिहार प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के भागलपुरवाले वार्षिक अधिवेशन का सभापतित्व भी किया था।

(२)

दूर से तो जायसवालजी के दर्शन मैंने पटने में कई बार किये थे, किन्तु, उनके सम्पर्क में आने का अवसर मुझे इसी भागलपुर सम्मेलन में मिला। अपनी "हिमालय के प्रति" नामक कविता का मैं बड़ा उपकार मानता हूँ। जनता में मेरा नाम पहले पहल इसी कविता के कारण फैला, किन्तु, उससे भी पूर्व, इस कविता ने मुझे जायसवालजी का स्नेहभाजन बना दिया, यह उसका सब से बड़ा उपकार है।

हिमालय कविता, अचानक ही, लिखी गयी थी। बात यों हुई कि जब मैं सम्मेलन देखने को भागलपुर पहुँचा, मुझे पता चला कि दूसरे दिन जो कवि-सम्मेलन होने वाला है उसके लिए कविता का विषय हिमालय रखा गया है। मैं वहाँ लालूचक मुहल्ले में एक मित्र के घर ठहरा था। स्थान-संकोच के कारण, सोने की जगह मुझे बरामदे पर मिली थी जो संकीर्ण था। मुझे जो खाट मिली थी वह भी थोड़ी नसखट थी। उसी पर, जगे-जगे, मैंने रात भर में पूरी कविता लिख डाली। दूसरे दिन सम्मेलन में मैं ने जब उसका पाठ किया तब जायसवालजी-समेत सारी सभा झूम उठी और उतनी लंबी कविता को तीन-चार बार पढ़वा कर सभा ने मुझे भारी प्रोत्साहन और गौरव प्रदान किया। जायसवालजी के साथ मेरा संपर्क उसी समय से आरंभ हुआ और वे जब तक जीवित रहे, उनके सहज स्नेह से मेरा आन्तरिक व्यक्तित्व, बराबर, सिक्त और प्रफुल्लित होता रहा।

(३)

मेरी कविताओं के प्रति उनका जैसा वर्ताव था, उससे मुझे सदैव यह भासित होता था कि संसार में जितनी भी अच्छी चीजें हैं, जायसवालजी कविता को उन सब में श्रेष्ठ समझते थे। कविता की चोट खा कर बड़े-से-बड़े लोग कैसे हिल जाते हैं और, बदले में, वे किस प्रकार कवि पर प्रेम और आशीर्वाद की वृष्टि करने लगते हैं, इसका यथेष्ट अनुभव मुझे १९३३ के बाद होनेवाला था। किन्तु, जब जायसवालजी मेरे जीवन में आये, उससे पूर्व और किसी भी बड़े आदमी की दृष्टि मुझ पर नहीं पड़ी थी। और यह अच्छा हुआ कि मेरे सब से प्रथम प्रशंसक जायसवाल-जी हुए, क्योंकि, अब, जब मैं सूर्य, चन्द्र, वरुण, कुबेर, बृहस्पति, शुक्र, इन्द्र, शची और ब्रह्माणी, सब के प्रेम और प्रोत्साहन का स्वाद जान चुका हूँ, तब यह साफ दिखायी देता है कि इनमें से कोई भी वैसा नहीं था जैसे जायसवालजी थे।

जायसवालजी का प्रेम मेरे जीवन में सूर्य बन कर उदित हुआ और मेरे भीतर जो कमल बन्द था, उसके दल स्वयमेव उन्मुक्त होने लगे। उन दिनों, पहले तो मैं स्कूल मास्टर था और बाद को सब-रजिष्ट्रार हो गया था। दोनों ही धन्धे ऐसे थे जिनके कारण मुझे, पटने से दूर, गाँवों में रहना पड़ता था। खैरियत की बात यह हुई कि जब मेरा नाम क्रान्तिकारी कवियों की श्रेणी में लिया जाने लगा, सरकार

चौंक पड़ी, और, चार साल के भीतर, उसने बाईस बार मेरा ट्रान्सफर किया। घबराहट में आकर कई बार मैंने सोचा कि अब नौकरी छोड़ दूँ। किन्तु, तीन बातें थीं जिनके कारण मैं नौकरी नहीं छोड़ सका। पहली तो यह कि नौकरी छूट गयी तो परिवार खायेगा क्या? दूसरी यह कि हर ट्रान्सफर के साथ मुझे चार-छह दिनों की ट्रांजिट छुट्टियाँ मिल जाती थीं, जिन्हें मैं जायसवालजी के सान्निध्य में बिताने को पटने चला आता था। और तीसरी यह कि जयप्रकाशजी बराबर यह शह देते रहते थे कि इस्तीफा देने की अपेक्षा डिसमिस हो जाना ही श्रेष्ठ है।

ये ट्रांजिट की छुट्टियाँ मेरे लिए वरदान साबित हुईं। भागलपुर सम्मेलन के बाद से, मैं अपना प्रधान श्रोता जायसवालजी को मानने लगा। यही नहीं, ज्यों-ज्यों उनका प्रेम और प्रोत्साहन मुखर होता गया, त्यों-त्यों मेरे इस भाव में अधिकाधिक वृद्धि होती गयी कि कविता वही श्रेष्ठ है जिसे जायसवालजी पसन्द करें। फिर तो ऐसी अवस्था हो गयी, मानों, जीवन में कोई देवता आ गया हो और मैं, उसी की प्रसन्नता के लिए और उसी की योजना के अनुसार, लिख रहा होऊँ। गाँवों में कविता रचते समय, काले पत्थर की वह सरस, सजीव प्रतिमा, अनायास, ध्यान में झलक मार जाती थी, जिसके सामने बैठ कर पटने में मैं कविता पढ़ता था और जो कविताओं पर केवल झूमती ही नहीं, मात्राओं और वर्णों की अशुद्धियाँ और दुष्प्रयोग भी पकड़ती जाती थी।

जब मैं पहुँच जाता, कचहरी से लौट कर, वे कोई काम नहीं करते। बीस बार सुनी हुई कविताएँ सुनते समय भी उनकी प्रतिक्रिया ऐसी होती, मानों, मैं कोई नयी रचना ही सुना रहा होऊँ। अक्सर उनके घर में यूरोप से आये हुए विद्वान् ठहरे होते थे। जायसवालजी उन सभी लोगों को मेरी कविताएँ सुनवाते और उनके सामने भी कविताओं पर उसी प्रकार झूमते रहते, जैसे एकान्त में झूमते थे। मैं कई बार कहता, "ये बेचारे तो समझने से रहे। केवल शील के कारण मेरा अत्याचार सहते हैं।" जायसवालजी कहते, "नहीं बेटा! कविता में केवल भाव और विचार ही नहीं होते। उसमें लय और ताप भी होता है। लेट देम हियर। दे विल गेट द हीट आव् इट। इन्हें भी सुनने दो। वे उसकी गर्मी तो पा सकेंगे।"

(४)

जब जायसवालजी स्वर्गीय हो गये, एक दिन जयचन्द्रजी ने मुझ से कहा, "तुम लोग अपने को परम सौभाग्यशाली समझो कि जायसवालजी तुम्हारे साथ उतना समय बिता देते थे। नहीं तो कौन था जो उनका समय ले सकता था ? वे अत्यन्त स्वाभिमानी, बल्कि, अहंकारी मनुष्य थे और अपने एक-एक क्षण पर कठोरता से पहरा देते थे।" जयचन्द्रजी ने जब मेरी आँख खोली, मुझे स्पष्ट दिखायी देने लगा कि जायसवालजी में कड़ाके का अहंकार था और, सचमुच, यह हम लोगों का सौभाग्य था कि हमारे पहुँचते ही वे अपनी संध्या बिलकुल खाली कर लेते थे।

एक बार जब मैं उनके साथ ठहरा हुआ था, एक शाम को श्री जे० सी० कुमारप्पा और श्री मथुराप्रसादजी (राजेन्द्र बाबू के सचिव जो अब नहीं रहे) उनसे मिलने आये। जायसवालजी ने, आते ही, उन्हें यह कह कर लौटा दिया कि अभी व्यस्त हूँ, कल प्रातःकाल साढ़े नौ बजे आइये। दूसरे दिन, दुर्भाग्यवश, वे लोग पन्द्रह मिनट देर से पहुँचे। जायसवालजी कपड़े पहन कर कचहरी जाने को बरामदे पर आ गये थे और, चाहते तो, दो-चार मिनट उन्हें दे सकते थे। किन्तु, यह बात उन्हें सूझी भी नहीं। उन्होंने घड़ी की ओर देखा और वे बोल उठे, "अब तो बात नहीं हो सकती, कभी और आइयेगा।" मुझे यह बात बुरी लगी। जब वे दोनों सज्जन चले गये, मैंने जायसवालजी से कहा, "आप जानते भी हैं कि कुमारप्पाजी कौन हैं ? वे गाँधीजी के अपने आदमियों में से हैं।" जायसवाल-जी हँसने लगे और हँसते-हँसते ही बोले—"अरे, मैंने तो पहचाना ही नहीं। मैंने समझा एक मथुरा है और दूसरा मथुरी।" मैं लज्जित हो गया। जायसवालजी, शायद, मथुरा बाबू को नहीं चाहते थे और कुमारप्पा से भेंट उन्होंने, शायद, इसलिए नहीं की कि वे मथुरा बाबू को साथ लेकर आये थे।

ठीक अहंकार तो नहीं, किन्तु, उनके उत्कट स्वाभिमान की झाँकी मैंने एक-बार और देखी जब रवीन्द्रनाथ, शान्ति-निकेतन के लिए धन-संचय करने के सिलसिले में, अपनी पार्टी के साथ पटने पधारे थे। मैं किसी ट्रांजिट की छुट्टी में ही पटने आया था और जायसवालजी के साथ ठहर गया था। मिलते ही उन्होंने यत्किंचित् उत्साह से कहा, "रवीन्द्रनाथ पटने आ रहे हैं। अगले १३ अप्रैल को तुम

छुट्टी लेकर यहाँ अवश्य आ जाना। तुम्हारी कविताएँ रवीन्द्रनाथ को सुनवाऊँगा और पूछूँगा कि कविताएँ कैसी लगती हैं।" मैंने सानन्द यह आज्ञा स्वीकार कर ली और पूछा, "क्या वे आपके साथ ठहरेंगे?" जायसवालजी बोले, "अभी कुछ ठीक नहीं है। चाहो तो उनकी चिट्ठी तुम देख सकते हो।" चिट्ठी में रवीन्द्रनाथजी ने जायसवालजी को लिखा था कि अमुक तारीख को हम अमुक उद्देश्य से पटने आ रहे हैं। बड़ी कृपा हो यदि आप मेरे ध्येय को सफल बनाने में सहायता दें। मैंने समझा, गुरुदेव जायसवालजी के ही पास ठहरनेवाले हैं और मेरे इस अनुमान का जायसवालजी ने खंडन नहीं किया।

१३ अप्रैल को मैं, बड़े ही उत्साह के साथ, पटने पहुँचा। किन्तु, जायसवालजी को अप्रसन्नता से भरा देख कर मेरा सारा उत्साह पानी हो गया। न वह हँसी, न वह खुशी, न चुहलें, न कविता सुनाने का संकेत। पहले यदि वे कम अप्रसन्न रहे होंगे तो मेरे आने से कुछ और अप्रसन्न हो गये थे। हम लोग, चुपचाप ही, खाते-पीते उनके पास बैठे रहे। रात में सोते समय मैंने जायसवालजी के छोटे भाई इंजीनियर उमेशप्रसाद से पूछा, "क्यों, आखिर बात क्या है?" उमेशजी बोले, "कुछ ठीक नहीं कहा जा सकता। मेरा ख्याल है, भाई साहब गुरुदेव पर नाराज हैं। उन्होंने, शायद, सोचा था कि गुरुदेव इन्हीं के साथ ठहरेंगे, किन्तु, वे तो बैरिस्टर पी० आर० दास के यहाँ उतर पड़े हैं, गरचे, दास साहब पटने में हैं भी नहीं। भाई साहब को इसी बात से चोट लगी है।"

शाम से लेकर सुबह तक मेरी तो हिम्मत ही नहीं पड़ी कि जायसवालजी के सामने रवीन्द्रनाथ का नाम भी लूँ। सुबह को जब हम लोग चाय पर बैठे, तभी एक घटना घट गयी। गुरुदेव के यहाँ से फोन आया। जायसवालजी ने रिसीवर उठा लिया। पटने के स्वर्गीय बैरिष्टर श्री गोपालप्रसाद, दास साहब के घर पर, गुरुदेव की आवभगत में लगे हुए थे। फोन के दूसरे छोर पर वे ही थे। उन्होंने जायसवालजी से कहा, "गुरुदेव अभी फुरसत में हैं। वे चाहते हैं कि आप अभी आ जायँ तो संगति और कुछ वार्तालाप हो जाय।" जायसवालजी ने सिर्फ यह कहा कि "मेरे पास समय नहीं है (नो, आइ हैव नो टाइम)" और रिसीवर उन्होंने रख दिया।

जलपान की मेज़ पर का वातावरण और भी धुएँ से भर गया। स्पष्ट ही, यह अच्छा व्यवहार नहीं था। किन्तु, यह बात बोले कौन? जायसवालजी

तो इस प्रकार गम्भीर हो कर चाय पी रहे थे, मानों, आसपास की दुनिया से उन्हें कोई सरोकार ही नहीं हो। आखिर, उमेशजी ने साहस बटोर कर कहा, "गुरुदेव अतिवृद्ध हैं। वे यदि आपसे मिलने नहीं आये तो यह कोई अपराध की बात नहीं है। किन्तु, आपको ऐसा जवाब नहीं देना चाहिए था।"

अब घटा, अनाचक ही, फट गयी और जायसवालजी ने अपने दिल का बुखार निकालना शुरू कर दिया—"इस शहर में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का व्यक्ति मेरे सिवा और कौन है? पटना आने पर मुझे विजिट देना रवीन्द्रनाथ का पहला कर्त्तव्य था। जो व्यक्ति इतने-से शील का पालन न कर सका, उसके पास मैं क्यों दौड़ा जाऊँ और वह भी गोपाल के कहने पर? क्या फोन पर रवीन्द्रनाथ खुद नहीं बोल सकते थे? मैं तो इस ग्लानि से मरा जा रहा हूँ कि मैंने, व्यर्थ ही, इस लड़के को (संकेत मेरी ओर था) बुलाया। और रवीन्द्रनाथ में ऐसी है भी क्या चीज? वे अंगरेजी लिखने के कारण प्रसिद्ध हुए हैं। तो देखना, मैं बुद्ध का जीवन चरित कितनी अच्छी शैली में लिखता हूँ। और तुम कविता पर फिदा हो, तो देख लेना वह रचना कितने कवित्व से युक्त होती है।" बातें उन्होंने कुछ और भी कही होंगी जो मुझे याद नहीं हैं।

बड़े से बड़े आदमी का भी जब धुआँ फूटता है, तब उसकी भाषा अतिरंजित और जोशीली हो जाती है।

मौके का फायदा उठा कर मैंने निवेदन किया, "लेकिन, मुझको लेकर आप ग्लानि क्यों करते हैं? मैं तो अपने बाप के घर आया हूँ। गुरुदेव अपनी जगह पर हैं, किन्तु, पिता तो सदैव पिता ही होता है।"

अब जायसवालजी के मुख पर की घटा जरा पतली हो आयी। सिगार को अधरों से हटाते हुए बोले, "लेकिन, बाबा अगिन गिरि में जो ताप है उसकी झाँस तो सब को झेलनी ही पड़ेगी।"

अगिन गिरि जायसवालजी का छद्म-नाम था। भगवान पर एक व्यंग्य काव्य उन्होंने इसी नाम से लिखा था। जब कोई कटु बात कहनी होती, तब उसे वे, बाबा अगिन गिरि के ही मुख में रख कर, बोलते थे। असल में, उन्होंने यह नाम अपने व्यक्तित्व के उस पहलू को दिया था, जिसमें तुर्शी, चरपराहट और झाँस जरा ज्यादा थी।

उसी दिन शाम को, रवीन्द्रनाथ की पार्टी ने चित्रांगदा का अभिनय किया। रवीन्द्रनाथ मंच के एक कोने में आराम कुर्सी पर बैठे थे। जब खेल खत्म हुआ, जायसवालजी हाल छोड़ते-छोड़ते, शाही ठाट से, रवीन्द्रनाथ के पास से गुजरे और "पोयेट, यू हैव मेड इट ए गुप्त थिंग" (कवि, आपने इसे गुप्तयुग की वस्तु बना दिया) कह कर हाल से बाहर निकल गये। रात के कोई दस बजे, जब हम लोग भोजन कर रहे थे, गुरुदेव के यहाँ से फिर फोन आया। बोलने वाले फिर गोपाल बाबू ही थे। उन्होंने जायसवालजी से कहा, "गुरुदेव मारे आनन्द के विभोर हो रहे हैं। वे कई बार बोल चुके हैं कि जायसवालजी ने एक शब्द में मेरी कला का सार समेट दिया। सचमुच, चित्रांगदा गुप्तकालीन कला है। किन्तु, यह बात मुझे अब तक नहीं सूझी थी।"

जब जायसवालजी फोन सुन चुके, मैं ने पूछा, "क्या फिर गोपाल बाबू ही थे?" वे बोले, "नहीं, गोपली था।" फिर सब कुछ सुना कर उन्होंने टिप्पणी ठोंकी, "तुम कवियों की बड़ाई रोज होनी चाहिए। वही तुम्हारा आहार है। जाकर देखो, बुड्ढा नाच रहा होगा।"

मैं गुरुदेव के यहाँ जा तो नहीं सका, किन्तु, वे जब अपनी पार्टी के साथ शान्तिनिकेतन वापस लौटे, तब उनकी यात्रा का जो विवरण प्रकाशित हुआ, उसमें जायसवालजी की इस उक्ति का, प्रमुखता से, उल्लेख था।

सन् १९३७ ई० के चुनाव में कांग्रेस की जो अद्भुत विजय हुई, उससे जायसवालजी गदगद हो उठे थे। वे केवल इसी बात से खुश नहीं थे कि अंगरेजों के पिट्ठुओं को मुँहकी खानी पड़ी थी, बल्कि, ज्यादा खुशी उन्हें इस बात की थी कि जनता ने जमींदारों को झाड़ू से झड़ुआ दिया था। चुनाव के बाद जायसवालजी ने माडर्न रिव्यू में जो, लेख लिखा, उसमें उन्होंने, चुन-चुन कर, चुनाव के उन गीतों के अनुवाद दिये थे, जिनमें जमींदारों के विरुद्ध जनता के आक्रोश और उत्साह का बखान था। उन दिनों बिहार, और सारे भारतवर्ष, के किसानों के अप्रतिम नेता क्रान्तिकारी संन्यासी स्वामी सहजानन्द थे। चुनाव में स्वामीजी की महिमा से संबन्धित गीत भी कई निकले थे और जायसवालजी ने भी अपने लेख में स्वामीजी की बड़ाई लिखी थी। इस लेख से बिहार के जमींदार जल कर आग हो गये। उनमें से एक ने जायसवालजी को लिख कर डाँटा भी कि "आप हमीं से पैसे कमा कर हमारी ही जड़ काटते हैं।" जायसवालजी ने

उन महाराज महोदय को तुरंत फटकारा, "पैसे आप मुझे इसलिए नहीं देते कि आप मुझ पर कृपालु हैं, बल्कि, इसलिए कि मेरे समान दूसरा वकील आपको नहीं मिलता।" जमींदार महोदय, इज्जत से, चुप लगा कर बैठ गये।

(५)

जायसवालजी मजाकिया भी एक ही थे और उनके सारे मज़ाक खूब गहरे, पैने और पुष्ट होते थे। अद्भुत से अद्भुत बातें उन्हें, ठीक मौके पर, सूझ जाती थीं। मज़ाक वे नये भी गढ़ते थे और, यदा-कदा, पुराने मज़ाक भी पूरी ताज़गी से सुनाया करते थे। एक रात हम दोनों चाँदनी में बैठे गप्पें लड़ा रहे थे कि उन्होंने पूछा, "बेटा, कभी अगिन गिरि की वह भगवानवाली गप भी सुनी है या नहीं?" मैंने कहा, "अगर बाबा अगिन गिरि कृपा करें तो अभी सुन सकता हूँ।"

जायसवालजी बोले, एक बार बाबा अगिन गिरि ने मुंशी अजमेरी से कहा, "अजमेरी, एक बात जानते हो?"

अजमेरी बोले—"कौन-सी बात महाराज?"

अगिन गिरि ने कहा, "यही कि भगवान ने कहा, अरे, मैं मछली हो जाऊँगा; अरे, मैं कछुआ हो जाऊँगा; अरे, मैं सूअर हो जाऊँगा, किन्तु, ब्राह्मण तो मैं नहीं ही बनूंगा।"

अजमेरी ने शंका उठायी—"क्यों, परसुराम तो ब्राह्मण ही थे।"

अगिन गिरि ने कहा, "बिलकुल ग़लत बात। जब रामावतार मौजूद है तब परसुराम अवतार कहाँ से होगा? एक समय में एक ही अवतार बड़ी मुश्किल से होता है। फिर एक ही समय दो-दो अवतार कैसे हो सकते हैं? और यह भी तो याद करो कि राम और परसुराम में लड़ाई हुई थी। तो क्या भगवान भगवान से लड़ने को अवतार लेता है? ना भाई, परसुराम वाज़ ए प्रिटेंडर (परसुराम बहानिया अवतार थे)।"

लेकिन, अजमेरीजी ने माना नहीं। उन्होंने जब यह देखा कि परसुराम नहीं टिक सकते, तब वे बोले, "तो महाराज, वामन को तो अवतार मानियेगा?"

इस पर अगिन गिरि को जरा ताव आ गया। वे बोले, "अजमेरी, अब तुम रास्ते पर आ गये। भगवान ने जब यह देखा कि अब छल करना है, धोखा देना

है, दानी को पाताल दिखाना है, तब वे भी यह मान गये कि ऐसे अवसर के लिए ब्राह्मण शरीर से बढ़ कर और चोला नहीं।"

और यह कहानी सुना कर जायसवालजी वह हँसे, वह हँसे कि कुछ मत पूछिये।

एक दूसरे दिन जब हम लोग रात का भोजन करके बाहर आये, जायसवालजी बोले, "अच्छा, आओ बेटा! आज कुछ साहित्यिक गप्प-शप्प (मज़ाक में वे प को द्वित्व कर देते थे) की जाय।" मैं सामने की कुर्सी पर बैठते हुए बोला, "तो, शुरू कीजिये।"

जायसवालजी बोले, "यही कि हिन्दी में केवल दोय कवि भये।"

मैंने पूछा, "वे कौन हैं भला?"

उन्होंने कहा, "एक तो वही चंद, और दूसरा यही हरिचंद।"

मैंने अकचका कर पूछा, "और तुलसीदास?"

जायसवालजी को मौज आ गयी। बोले, "अरे, तुलसिया भी कौनो कवि रहा? उसकी तो बँदरवा न सुधार देता रहा जैसे गुप्तवा की महविरवा। मिलाओ हाथ।"

और "मिलाओ हाथ" कहते हुए उन्होंने हाथ बढ़ा कर जो हँसना शुरू किया तो पूरे मिनट भर हँसते रहे। और हँसी के मारे मेरा भी बुरा हाल था। कहावत है कि तुलसीदास की अधूरी कविताओं को हनुमानजी पूर्ण कर देते थे। और इधर तो यह सर्वविदित ही है कि श्री मैथिलीशरणजी की कविताओं का संशोधन पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी किया करते थे। फिर महावीर और हनुमान का यह अद्भुत संयोग! इन व्याप्तियों पर जितना ही विचार करता, भीतर से, हँसी का ज्वार उतना ही तेज होता जाता था।

एक बार आषाढ़ आने तक पटने में एक बूँद भी वर्षा नहीं हुई। लोग घबरा कर भगवान की शरण जाने लगे। हिन्दुओं ने बहुत पूजा की, बहुत पाठ किया, मन्त्र और कीर्त्तन गाया, इन्द्र देवता को आरती दिखायी, मनों घी और जौ जला कर भस्म कर डाला, लेकिन, इन्द्र देवता नहीं पसीजे। अब मुसलमानों की बारी थी। वे भी जुट कर सम्मिलित नमाज पढ़ने लगे। अजब संयोग कि एक-दो नमाजों के बाद ही आकाश में बादल उमड़ आये और रात भर मुसलाधार वृष्टि होती रही। दूसरे दिन जायसवालजी जब हाईकोर्ट गये,

उनके मित्र बैरिष्टर यूनुस ने (जो १९३७ ई० में बिहार में अन्तरिम मुख्य मन्त्री हुए थे) मज़ाक किया, "देखा जायसवाल ! तुम ने उतना घी और जौ व्यर्थ ही बर्बाद किया। भगवान तो सामूहिक नमाज़ के मुन्तज़िर बैठे थे। हमने नमाज़ पढ़ी नहीं कि वर्षा के मारे जल-थल एक हो गया।" जायसवालजी निर्लिप्त भाव से बोले, "व्हाट कैन आइ डू यूनुस ? अल्लाताला हैज़ अल्सो बिकम ए कमुनलिस्ट। (क्या करूँ यूनुस ! अल्लाताला भी संप्रदायवादी हो गया।)

जायसवालजी ईश्वर को मानते थे या नहीं, यह बात कभी भी ठीक से मेरी समझ में नहीं आयी। एक दिन मैंने उनसे कहा, "आप योग में विश्वास करते हैं, मन्त्र-तन्त्र को मानते हैं, यह भी सोचते हैं कि भूत-प्रेत का अस्तित्व हो सकता है, तो फिर आप नास्तिक कैसे हुए ? आपको तो आस्तिक होना चाहिए था।"

वे बोले, "बचपन में जो गुरुजी मुझे पढ़ाते थे, वे नास्तिक थे। जब पढ़ने को विलायत गया, तब जिस बुढ़िया के घर में डेरा रखा, वह बुढ़िया ईश्वर के बोझ से बरी थी। लौट कर जब भारत आया, तब संगति पण्डित रामावतार शर्मा की हो गयी। अब बुढ़ापे में, लुढ़कते-पुढ़कते, ईश्वर की ओर जाता, तब राह में रहुलवा (राहुल सांकृत्यायन) आय गया है।"

एक दिन रात में हम लोग भीतर भोजन कर रहे थे कि इतने में मेरे एक मित्र मुझसे मिलने आये और बरामदे में एक कुर्सी पर बैठ गये। जायसवालजी के पास कई कुत्ते थे जिनमें से एक का नाम कैसर था। कैसर, डील-डौल में, बाघ मालूम होता था और उसका जबड़ा भी विशाल था। मेरे मित्र को कुर्सी पर बैठा देख कर कैसर उनके पास पहुँच गया और, बिना कुछ बोले, वह अपना पूरा जबड़ा उनकी गोद में रख चुपचाप खड़ा हो गया। पता नहीं, यह व्यवहार उसने पुचकार पाने की आशा में किया था या अहिंसक ढंग से उन्हें कैद करने के लिए। किन्तु, मित्र महोदय को भय के मारे समाधि लग गयी। हिलने-डुलने की तो बात ही क्या, उनके मुँह से कोई आवाज़ नहीं निकली। भोजन समाप्त करके जायसवालजी जो बाहर निकले तो उलटे पाँव फिर कोठरी में लौट गये। प्रयासपूर्वक दबायी हुई हँसी से उनका सारा आनन फड़क रहा था। फिर तुरंत मुझे पकड़ कर वे बाहर आ गये और कैसर के पास पहुँचते-पहुँचते बड़े जोर से भभा उठे। सचमुच, बिन्दो बाबू का बुरा हाल था। वे कोई पन्द्रह मिनट से कुत्ते की कैद में प्रतिमावत् निश्चल हो कर बैठे रहे थे। लेकिन, टीप का बन्द तो तब

ग्राया जब जायसवालजी ने कहा, "बाबू साहब ! इतनी देर तक तो ग्राप हनुमान चालीसा ही पढ़ रहे होंगे ।"

महंजोदड़ो ग्रौर हड़प्पा के शिलालेख ग्रब तक भी पढ़े नहीं जा सके हैं। किन्तु, जायसवालजी के जीवन-काल में ही यह ग्रफवाह उड़ी कि काशी के एक विद्वान शिलालेखों के पढ़ने में सफल हो गये हैं। जायसवालजी जब काशी जाते, तब विख्यात कलामर्मज्ञ, श्री रायकृष्णदासजी के साथ ठहरा करते थे। एक बार जब वे राय साहब के ग्रतिथि हुए, उन्होंने उस विद्वान् को ग्रपने पास बुलवाया ग्रौर कहा कि ग्राप इन शिलालेखों को कैसे पढ़ते हैं, यह मैं भी देखना चाहता हूँ। शिलालेखों के फोटो उस विद्वान् के सामने रखे गये। किन्तु, उनकी पाठ-पद्धति को देख कर जायसवालजी ने उनसे कहा, "महाराज, ग्रगर यही हाल है तो यहाँ से लौटते समय दूकानों पर की जलेबियाँ भी ग्रापको शिलालेख नज़र ग्रायेंगी ।"

जब "भारत-भारती" पहले-पहल प्रकाशित हुई, द्विवेदीजी ने सरस्वती में उस पर एक लेख लिखा था जो प्रशंसात्मक ग्रौर ग्रत्यन्त प्रभावपूर्ण था। लेख के ग्रन्त में द्विवेदीजी ने मैथिलीशरणजी के साथ ग्रपनी मैत्री का भी जिक्र किया था ग्रौर लिखा था "लेकिन, मैंने इसका कोई ख्याल नहीं रखा है। सत्य, इसके साक्षी तुम हो।" जायसवालजी पाटलिपुत्र में जब भारत-भारती की समीक्षा करने लगे, उन्होंने पुस्तक ग्रौर लेखक तथा प्रकाशक के नाम एवं मूल्यादि लिख कर केवल एक वाक्य लिखा, "स्वर्ग से फतवा ग्राया है।" ग्रौर उसके बाद द्विवेदी-जी का पूरा-का-पूरा लेख उद्धृत कर दिया।

जायसवालजी के पास जो छोटे-छोटे दो कुत्ते थे, उनमें से एक का नाम उन्होंने तिलक सिंह ग्रौर दूसरे का मोहन सिंह रखा था। एक दिन, बड़ी गम्भीरता से, कहने लगे, तिलक सिंह तो इस साल निःसंतान ही रहा। हाँ, मोहन सिंह के दो लड़के हुए थे। एक मर गया ग्रौर दूसरा वियोगीजी के पास है।

नवयुवकों को वे खान-पान में उदार बनाना चाहते थे। चूँकि मैं मांस नहीं खाता था, इसलिए, बार-बार, वे मेरे मन को हिलाते-डुलाते रहते थे। कभी कहते, ग्ररे, शास्त्रों में लिखा है कि जिसके घर से चिराँयध नहीं ग्राती, उसके पितर स्वर्ग में रोया करते हैं। कभी कहते, बुद्धदेव ने हिन्दुग्रों को बुद्धू बना दिया, इसीलिए, उन्होंने मांस खाना छोड़ दिया। कभी कहते, तुम्हारा शरीर बुढ़ापे के प्रहारों को नहीं झेल सकेगा क्योंकि यह केवल दूध पर पला है। एक दिन

शाम को मैं ज्यों ही उनके पास गया, वे बोले, "अच्छा, तो लौट कर जरा सड़क की ओर जाओ तो।" मैं कुछ समझ नहीं सका। उन्होंने फिर कहा "अच्छा, सड़क नहीं, उस फूल तक चले जाओ।" मैं उलटे पाँव लौट कर फूल तक जा कर ठहर गया। फिर वे बोले, "अच्छा, अब चले आओ।" मैं उनके पास आ कर ठहर गया। अब उन्होंने पूछा, "अच्छा, बताओ तो सही, यह पुण्य हुआ या पाप?" मैंने हँसते हुए कहा, "यह भी कोई पूछने की बात है? यह तो न पुण्य हुआ, न पाप।" जायसवालजी अपने चेहरे पर सात मन नकली गम्भीरता भरते हुए धीरे से बोले, "तो फिर मांस खाना भी न पुण्य होता है, न पाप। वह केवल खाना होता है।"

सौभाग्य से जायसवालजी की सहधर्मिणी मांस नहीं खाती थीं। उनकी कृपा से मुझे सुस्वादु वैष्णव भोजन तो मिलता ही था, आड़े वक्त, वे शास्त्रार्थ में भी मेरा पक्ष ले लेती थीं। एक बार जब जायसवालजी मुझे दबाये चले जा रहे थे, माता जी बोल उठीं, "अरे बेटा, इनसे यह पूछो न कि जीव-दया की बात अगर गलत है तो ये उस बकरे का मांस क्यों नहीं खाते जिसकी आवाज़ इनके कान में पड़ जाती है?" जायसवालजी अपनी कमजोरी के सामने आप ही परास्त हो गये। बोले, "हाँ, यह तो है कि मैं अपने पालतू बकरे और कबूतर को अपना भोजन नहीं बना सकता।"

लेकिन, एक बार उन्होंने माताजी (अपनी पत्नी) को ही बना कर धर दिया। उस बार वे कहीं पहाड़ जा कर लौटे थे। कहने लगे, "इस बार पहाड़ पर हम लोग रेणुका माई का स्थान देखने गये थे। कई मील तक बस पर जाना होता है। सो हम भी जब बस पर चढ़े, तब क्या देखते हैं कि हर आदमी या तो कबूतर या मुर्गी लिये चल रहा है। जब धाम पर पहुँचे, तब वहाँ भी यही तमाशा। जिधर देखो, बेचनेवाले मुर्गियाँ बेच रहे हैं। मेरे मन में आया, हो न हो, यह रेणुका-धाम नहीं, किसी पीर का मकबरा होगा और हम लोग यहाँ गलती से आ गये हैं। लेकिन, पूछताछ करने पर पता चला कि यह रेणुका माई का ही धाम है और मुर्गी तथा कबूतर का चढ़ावा यहाँ चलता है। तब मैंने इनसे (माताजी से) कहा, देखा न? रेणुका माई डट कर मुर्गी और कबूतर खाया करती थीं, तभी तो उनकी कोख से परसुराम का जन्म हुआ। एक आप हैं कि कद्दू और करेला छोड़ कर और कुछ खातीं ही नहीं। तभी तो परसुराम के

बदले चेत सिंह और चतुर्भुज सिंह जनमे हैं।" चेत सिंह और चतुर्भुज सिंह जायसवालजी के प्रथम दो पुत्रों के नाम थे। भाई चेत सिंह मलाया में बैरिष्टरी करते थे। शोक की बात है कि वे अब नहीं रहे। लेकिन, उनके बाकी बेटे, ईश्वर की कृपा से, कमा-खा रहे हैं।

(६)

जायसवालजी की कितनी ही बातें याद आती हैं। राष्ट्रीय आन्दोलन पर उनकी एकान्त श्रद्धा थी और, यद्यपि, अहिंसा के वे आलोचक थे, किन्तु, गाँधीजी का बहुत आदर करते थे। एक दिन शाम को मैं उनके यहाँ जरा देर से पहुँचा। पूछने पर कहना पड़ा कि मैदान में गाँधीजी का भाषण हो रहा था, मैं वहीं जरा विरम गया था। फिर मैं उन्हें गाँधीजी के भाषण का सारांश सुनाने लगा। देखा, उनकी आँखें, धीरे-धीरे, सजल हो गयीं। रोने की वैसी कोई बात नहीं थी। जायसवालजी यह सोच कर पसीज उठे थे कि भारतमाता ने, सचमुच, एक महावीर उत्पन्न किया है।

प्रबन्ध-काव्य पर उनका नैसर्गिक प्रेम था। दुःख है कि कुरुक्षेत्र और रश्मि-रथी की रचना वे नहीं देख सके। उनकी आज्ञा थी कि बुद्धदेव पर मैं कोई खंडकाव्य लिखूँ। लाइट आव् एशिया और बुद्धचरित, ये दो काव्य मैं ने उन्हीं की प्रेरणा से पढ़े थे। उस समय बुद्धचरित को ले कर मैं कुछ सपने भी देखने लगा था। किन्तु, वह काव्य आज तक नहीं लिखा जा सका। घुणाक्षर-न्याय से कभी वह लिख गया तो उसे मैं जायसवालजी की ही कृपा का प्रसाद समझूँगा।

वे न तो पटना हाईकोर्ट के जज हो सके, न पटना विश्वविद्यालय के वाइस चांसेलर। वे अंगरेजों के स्वेच्छाचारिता के दिन थे। उस समय विद्या-बुद्धि भी उसी की आदर पाती थी, जिसमें कुछ विद्येतर गुणों का भी प्रकर्ष हो। ये खास तरह के गुण जायसवालजी में नहीं थे। मेरा ख्याल है, जायसवाल-जी काफी सँभल कर चलने लगे थे। लेकिन, उनके स्वभाव में जो अक्खड़पन था उसकी झाँस गवर्नरों को कभी भी अच्छी नहीं लगती होगी।

फिर भी, उनके जज या वाइस चांसेलर न होने का उतना दुःख नहीं है—जितना इस बात का कि वे भारत का सुसंबद्ध इतिहास नहीं लिख सके। जायस-वालजी उन दुर्लभ लोगों में भी अत्यन्त श्रेष्ठ थे जो भारतीय इतिहास के सभी कालों

के ज्ञाता होते हैं। उनकी इच्छा थी कि वे भारत के सभी कालों का इतिहास, सुसंबद्ध रूप में, लिख दें। प्रोफेसर शेरवास्की उन दिनों जीवित थे और जायसवालजी से उनका बराबर पत्राचार चलता था। एक पत्र में शेरवास्की ने जायसवालजी को लिखा था कि तुम यह इतिहास अवश्य लिख डालो, क्योंकि तुम्हारे बाद मुझे कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं दिखायी देता जो इस काम को सफलता से पूरा कर सके। लेकिन, आर्थिक कारणों से जायसवालजी इस कार्य का आरंभ नहीं कर सके। पीछे, जब सुविधा आने-आने को हुई, जायसवालजी स्वर्गीय हो गये। इस प्रकार, वह कार्य होने से रह गया जिसे यदि जायसवालजी कर पाते तो वह अत्यन्त प्रामाणिक और विलक्षण हुआ होता। किन्तु, जितना काम वे कर गये हैं, वह उनके नाम को अमर बनाने के लिए यथेष्ट है।

मई, १९६० ई० }

श्री राहुल सांकृत्यायन

"लेकिन, उस समय मुझे तनिक भी अनुमान नहीं था कि इसी आदमी का विकास उस राहुल सांकृत्यायन में होगा जिसे मैं आज जानता हूँ—एक ऐसा मनुष्य, जो बुद्ध से मिलता-जुलता है, जो जीव मात्र के प्रति दुर्भावना से मुक्त है, जिसका दृष्टिकोण विश्वव्यापी है, जो पूर्णरूप से सुस्थिर और शान्त है, जिसके पास बच्चे, आप से आप, दौड़ पड़ते हैं, जो अगर यह कहे कि "मेरे पीछे आओ", तो मनुष्य उसके पीछे, उसी प्रकार, चल पड़ेगा, जैसे वह गौतम या ईसामसीह के पीछे-पीछे चलता था।"

—काशीप्रसाद जायसवाल

एक धर्म-प्रचारक, जिसमें उत्तरीय के सिवा धार्मिक परम्परा का कोई आडम्बर नहीं; ऐसा विद्वान, जिसने सारी विद्याओं में डूब कर केवल नास्तिकता को ग्रहण किया हो; एक साधु, जिसे राह चलते, अनावश्यक अवसरों पर भी, ईश्वर पर व्यंग्य, शास्त्रों की भर्त्सना और अण्डों के प्रचार में आनन्द आता हो; साहित्य में रहते हुए जिसे राजनीति का मोह हो, और राजनीति की ओर अग्रसर होते हुए जिसे कुछ घृणा, कुछ झिझक-सी लगे; युग-विधायक अनुसन्धान करते हुए भी जिसे अपना श्रम व्यर्थ मालूम होता हो; इतिहास को मुर्दों का क्षेत्र कह कर जो, जिन्दों के बीच जीने की लालसा से, रूस दौड़े, और जिन्दों के जीवन से मर्म पर व्याघात ले कर फिर मुर्दों के देश में लौट आये; प्रकाण्ड विद्वान; बहुत बड़ा स्वतन्त्र विचारक; सांस्कृतिक क्रान्ति का उग्र नेता; क्रान्तदर्शी और विक्रान्त परिश्रमी; लेकिन, अपनी पूरी शक्ति के उपयोग के योग्य निश्चित क्षेत्र के अभाव में अमूल्य विचारों का बहुत बड़ा बोझ ढोता-सा; संसार जिसे असाधारण एवं अज्ञेय रहस्य मान कर विस्मय करे, उसे साधारण—अतिसाधारण—मान कर उसकी खिल्ली उड़ाता-सा; श्रद्धावान् हाथ जोड़ कर जब गगनोन्मुख हो, तब ऐसा दिखलाता-सा, मानों, मैं आकाश में भी घूम चुका हूँ, वहाँ कुछ नहीं है; देवताओं के सामने मनुष्य और स्वर्ग के सामने पृथ्वी को पूजनेवाला; जो अपने तर्क के तीखे बाणों से परम्परा, रूढ़ि और प्राचीन संस्कारों पर कुटिल व्यंग्य कसने का आदी हो; धुन का पक्का, लगन का कड़ा, साँप के फन पर जान-

बूझ कर पैर रखनेवाला ; ऐसी विचित्रताओं का आगार है वह मनुष्य, जिसे हम राहुल सांकृत्यायन के नाम से अभिहित करते हैं।

और राहुलजी के स्वभाव की ये विशेषताएँ, जिन्हें मैंने झाँकी को आकर्षक बनाने के लिए जरा गाढ़े रंग में दिखलाया है, परस्पर विरोधी नहीं हैं, गर्चे दूर से देखने पर वे आपस में मेल खाती-सी नहीं दीखतीं। दरअसल, वे उनके विचार-स्वातन्त्र्य और, अधिक से अधिक, ठोस काम कर गुजरने की चेष्टा से निकली हुई विभिन्न किरणें हैं, जो अक्सर एक दूसरे के रंग से हट कर अलग रहती हुई-सी जान पड़ती हैं। ये उनकी इस परम व्याकुलता के द्योतक हैं कि क्या करें कि तपस्या सफल हो, कौन-सा मार्ग मिले कि संचित शक्ति अपनी पूर्णता के साथ संसार के व्यापक कल्याण का हेतु बन सके। वे एक बार अन्धविश्वास के अन्तराल में बुद्धि की तीव्रतम किरण बन कर घुसना चाहते हैं; दूसरे क्षण, बौद्ध दर्शनों का अनुवाद बिखेर कर उस पर आघात करना चाहते हैं। कभी साहित्य में स्वतन्त्र चिन्ता का समावेश करते हैं; कभी राजनीति को अन्ध भक्ति के दल-दल से निकालना चाहते हैं। वे शक्ति के एक बहुमुखी स्रोत हैं, जो चारों ओर से मनुष्यों की मानसिक गुलामी का प्राचीर तोड़ना चाहता है, किन्तु, अन्तर्द्वन्द्वों की उलझन में फँस कर जिसके प्रहार का वेग इच्छानुकूल नहीं हो पाया है।

कुछ वर्ष पहले की बात है, हिन्दी के मंच से रोमन लिपि का समर्थन सुनना सारी सभा के लिए असह्य था। और स्वर्गीय जायसवालजी के सभापतित्व में होनेवाले बिहार प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के मंच से छह फीट लम्बी एक दिव्य, बलिष्ठ मूर्त्ति ने, बड़ी शान्ति और निश्चिन्तता के साथ, यही अपराध किया था। खलबली के बीच एक सभासद ने क्षोभ से पूछा—"प्रस्तावक महोदय कहाँ के प्रतिनिधि हैं ? उन्हें सभा की कार्यवाही में भाग लेने का क्या अधिकार है ?" जायसवालजी ने उठ कर, अपने स्वाभाविक विनोद से, उत्तर दिया—"राहुलजी तिब्बत के प्रतिनिधि हैं।"

तब से, उनके संसर्ग में रह कर यह जान सका हूँ कि राहुलजी में कितने ही गुण महामानव के हैं। अगर जीवन ने प्रतिभा का साथ दिया तो उनका स्थान उन पुरुषों के बीच होना चाहिए जिनकी संख्या, किसी भी युग में, अधिक नहीं होती। आज जब उनके जीवन के दृष्ट और श्रुत, समग्र अंश पर एक विहंगम दृष्टि डालने का अवसर आया है, मुझे ऐसा लगता है कि आज से लगभग बत्तीस वर्ष पूर्व

जो बालक आजमगढ़ जिले के कनैला ग्राम से, सांसारिक सुखों का मोह त्याग कर चला था, उसके हृदय में केवल विरक्ति की ही आग नहीं थी, बल्कि, एक अनिर्वचनीय पिपासा की ज्वाला भी, जो किसी दिन राजकुमार सिद्धार्थ के हृदय में जली थी, जो प्रत्येक युग में महामानवों के हृदय में जला करती है। राहुलजी का ध्यान एक ऐसी आत्मा का ध्यान है, जो, युग-युगान्तर से, अन्धकार के बीच आलोक खोजती आ रही है ; एक के बाद दूसरी प्राप्तियाँ उसके पथ में आती हैं, किन्तु, वह उन्हें पीछे छोड़ कर 'नेति-नेति', इतना ही नहीं, इतना ही नहीं, कहते हुए आगे बढ़ जाती है, मानों, जो सिद्धि मिली है वह उसे तृप्ति नहीं दे सकती; मानों, जो कुछ वह खोज रही है वह अभी और आगे है।

राहुलजी के इस महान अभियान में, बार-बार, ऐसी स्थिति पैदा हुई है जो मनुष्य की गति रोक सकती थी। वैराग्य के मार्ग में हाथ जोड़ कर खड़ी होनेवाली मठ की सम्पत्ति को छोड़ कर वे आगे बढ़े। अपनी आन्तरिक पिपासा को उन्होंने विद्या के जल से बुझाना चाहा, काशी में बैठ कर उन्होंने संस्कृत-दर्शनों का अभ्यास किया, मद्रास जा कर उन्होंने वैष्णव-आगमों को अधिकृत किया ; फिर भी, शान्ति उन्हें नहीं मिली। अपने लिए तथा समस्त मानव जाति के लिए वे जिस आलोक की खोज में चल रहे थे, उसकी प्राप्ति देवताओं की गुलामी करने से नहीं हो सकती थी। वैष्णव-आगमों से उन्हें निराशा हुई और वे वहाँ से भी आगे बढ़ गये। लङ्का पहुँच कर उनके संकल्प ने दुर्दान्त रूप धारण किया। लगभग दो वर्षों की कठोर तपस्या एवं बौद्ध दर्शनों के अविरत मन्थन के बाद, मिट्टी जैसे उनके पैरों के नीचे आयी और, शायद, पहली बार वैष्णव रामोदारदास के हृदय से विष्णु की भावना दूर हो गयी। माया-पुत्र गौतम के उपदेशों ने माया की फाँस काट दी। राहुलजी (तब के रामोदारदास) के हृदय में यह बात बैठ गयी कि मनुष्य का कोई ईश्वर नहीं हो सकता। वह अपने कर्मों के सिवा किसी भी अन्य शक्ति के अधीन नहीं है। उनके मन में मनुष्य की महत्ता, अपने सम्पूर्ण चमत्कारों के साथ, चमक उठी। संस्कृत आगमों के देवता मनुष्य से नीचे आ गये। स्वर्ग और नरक जल कर भस्म हो गये। आध्यात्मिकता भौतिकता से मिलने को नीचे उतर आयी। छूँछा आदर्श, रहस्यवाद के फेरे में डाल कर मानवीय श्रम को व्यर्थ करनेवाली दार्शनिक कल्पनाएँ, कुहरे की भाँति, फट गयीं। राहुलजी ने देखा कि मनुष्य का जीवन उसके अपने हाथ में है। ईश्वर और देवताओं

का साहाय्य लिये बिना, उपनिषदों के रहस्य-रूप पर विस्मित और चकित हुए बिना, वह अपने जीवन को, जैसा चाहे, बना सकता है।

बौद्ध दर्शन के साङ्गोपाङ्ग अध्ययन की तृषा दुर्गम मार्गों से घसीट कर उन्हें तिब्बत ले गयी। इसी बीच, हिन्दी-साहित्याकाश में, उनका उदय धूमकेतु की भाँति हुआ। भू-मण्डल के सभी प्राच्य विद्याविद उनके ऐतिहासिक अनुसन्धानों पर विस्मय कर रहे हैं। धर्मकीर्त्ति के प्रमाणवार्तिक को तिब्बत के मठों से भारत ला कर उन्होंने बौद्ध दर्शन के इतिहास में क्रान्ति ला दी है। मास्को के विख्यात भारत-विद्या-विशारद, प्रोफेसर शेरबास्की, उनके अनुसन्धानों का अन्तरराष्ट्रीय प्रदर्शन करके उनका सम्मान करना चाहते हैं, उनके कार्यों को ऐतिहासिक महत्त्व देना चाहते हैं। और स्वर्गीय जायसवालजी ने 'माडर्न रिव्यू' (LXI, No.2, 1937) में लिखा था कि राहुलजी ने, लगभग, डेढ़-सौ ऐसे ग्रन्थों का उद्धार किया है जिन में से किसी एक का उद्धारक भी इतिहास में अमर पद पा सकता था।

किन्तु, राहुलजी यहाँ भी रुकते नहीं दीखते, मानों, दिगन्तव्यापी सुयश के आलोक में भी कोई सार नहीं हो। ऐसा लगता है, इस अनुसन्धान-कार्य को छोड़ कर वे फिर आगे जा रहे हैं किसी सार्वजनीन कल्याण की खोज में। उनकी आज की राह में मिट्टी ठोस और आकाश शून्य है। यह वह युग है जिसमें गाँधी-जैसे सन्त की आदर्श-प्रियता राजनीति को अपना माध्यम चुन रही है। अजब नहीं कि राहुलजी भी अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए राजनीति का अवलम्ब ग्रहण करें। कोरी आध्यात्मिकता के दिन सैंकड़ों वर्ष पूर्व ही लद चुके। आज के अवतारों को भी राजनीति से अलग रह कर अपना सन्देश नहीं देना है।

पीले उत्तरीय से आवृत एक दीर्घकाय मनोरम मूर्त्ति, नख से सिख तक प्रतापवान्, ओठों पर अन्तरतम से पल-पल उल्लसित आनन्द की हलकी रेखा, आँखों की ऐसी प्रभा जैसे उनके पीछे बहुदृष्टता का कोष छिपा हो और जैसे वे अब भी कुछ हेर रही हों, आकृति प्रसन्न, आनन के चतुर्दिक् अमोघ शान्ति का आलोक, राहुलजी, सचमुच, अपनी परम्परा के गुरु, तथागत से मिलते-जुलते हैं, सिवा इसके कि उनकी आँखों में बुद्धदेव की आँखों की नीलिमा नहीं है। बातें वे इतनी सरलता से करते हैं कि उनका शब्द-शब्द आपके दिल पर बैठता जाता है। वे कभी खुल कर नहीं हँसते, फिर भी, ऐसा लगेगा कि आपकी

बातों से उन्हें काफी आनन्द आ रहा है। आपकी युक्तियों का खण्डन वे बड़ी सहजता से करेंगे और इतने कम शब्दों में कि आपको विस्मय होगा 'कहीं यह मनुष्य मुझसे इन्हीं प्रश्नों की आशा तो नहीं करता था ?' उनकी आकृति पर वातावरण को असह्य बना देनेवाली विषैली गम्भीरता की कभी कल्पना भी नहीं की जा सकती। अहिंसा का यह हाल है कि उनके कीमती समय में धँस पड़िये तो वे अधीर नहीं होंगे। जितनी देर चाहिए, बातें करते जाइये, वे नैसर्गिक मुस्कान के साथ बोलते जायँगे। स्वयम् प्रश्न कम करेंगे, किन्तु, कहीं आपके दिल पर हलकी-सी चोट न लग जाय, इसलिए, उत्तर वे अवश्य देंगे। ओठों पर मुस्की और आनन पर धैर्य वर्त्तमान रहेगा; किन्तु, मन में उनका कार्य, जो आपके आ जाने से अधूरा रह गया है, बार-बार टक्कर मारेगा; लेकिन, वे उसे सहते रहेंगे, केवल इस आशा में कि रात में दो घण्टे अधिक जग कर वे इस कमी को पूरा कर लेंगे। और स्मरण रहे कि राहुलजी की दृष्टि में समय और श्रम से अधिक मोल किसी वस्तु का नहीं है। वे चम्मच से इसलिए खाते हैं कि हाथ धोने में समय बरबाद नहीं हो। लङ्का के विद्यालङ्कार कालेज में जब उनका घनघोर अध्ययन अबाध रूप से चल रहा था, तब वे कभी-कभी कहा करते थे, 'अब मैं मिनटों का उपयोग तो कर लेता हूँ, हाँ, सेकेण्ड कभी-कभी व्यर्थ चले जाते हैं।' अपनी महत्ता को छिपाने की कला में वे इतने पटु हैं कि आपको कभी मालूम भी नहीं होगा कि आप जिस मनुष्य के साथ घूम रहे या बातें कर रहे हैं, उसे,ऐतिहासिकों के बीच, युग-विधायक होने का गौरव प्राप्त है, जिसके हृदय और मस्तिष्क में भारत की समस्त प्राचीन विद्याएँ घर कर गयी हैं तथा जो प्रव्रजित हो कर समस्त राष्ट्र के कल्याण की खोज में निरत है।

राहुलजी के संपर्क में आनेवाले व्यक्ति को यह जानते देर नहीं लगती कि यह साधु, जो निष्काम, निर्लिप्त और अपने में पूर्ण है, अपने चारों ओर की वस्तुओं की वर्तमान स्थिति को असन्तोष की दृष्टि से देखता है। किन्तु, तो भी वे कभी उत्तेजित नहीं होते। बातों के सिलसिले में कभी-कभी वे व्यंग्य करते हैं; किन्तु, उनका व्यंग्य म्लान नहीं, निर्मल होता है। लक्ष्य तक पहुँचने वाले वे व्यंग्य, यदा-कदा, कटु तो होते हैं, पर, उनके पीछे विष नहीं होता। कुछ तो उनकी वाणी की मधुरता के कारण और कुछ उनकी निर्लिप्त भावना के कारण, उनके मुंह से निकली हुई बात, न सुनने योग्य हो कर भी, कानों को अप्रिय

नहीं लगती। एक बार जायसवालजी से मैंने कहा—'आप जैसा बोलते हैं, ईश्वर पर आपका वैसा ही अविश्वास है या नहीं, इसमें मुझे सन्देह है। अगर ईश्वर-सिद्धि के पक्ष में केवल एक ही दलील हो तो भी वह काफी है कि कोई था ही नहीं, तो यह सारी सृष्टि आयी कहाँ से?' राहुलजी पास ही बैठे थे। जायसवालजी ने संकेत किया। वे झट बोल उठे—'कौन कहता है कि ईश्वर नहीं था? था जरूर; लेकिन, बहुत दिन हुए, बेचारा मर गया। देखते नहीं दुनिया कितनी दुःखी है?' तीर लक्ष्य पर लगे और सुननेवाले का जी भी न दुखे, राहुलजी ऐसे व्यंग्य के धनी हैं।

बहुत दिनों तक फकीर बन कर देश-विदेश घूमने के कारण, उनके स्वभाव में एक प्रकार का फक्कड़पन, कुछ मनमौजी की-सी बान भी आ गयी है, जिसे हम उनकी संस्कृति के कारण नहीं देख पाते। राहुलजी का नाम लेते ही हमारे मनों में जायसवालजी, राखाल बाबू, शेरबास्की और रीस डेविज़-जैसे सुसंस्कृत व्यक्तियों के चित्र उग आते हैं और, इस पंक्ति में एक स्थान पर बैठनेवाला कोई फक्कड़ भी है, इस ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। तो भी यह कितनी भली बात है कि राहुलजी ऊँच-नीच का भेद नहीं मानते और जहीं मन रम जाय वहीं जम कर आनन्द मनाने लगते हैं। प्रयाग में कितने ही आनन्द-भवनों के द्वार उनके स्वागत के लिए खुले रहते होंगे; किन्तु, सुनने में आया है कि वहाँ के किसी सौभाग्यशाली व्यक्ति पण्डित उदयनारायण त्रिपाठी (अब विख्यात भाषा-शस्त्री) को अपने आतिथ्य का पुण्य देने में राहुलजी को सन्तोष होता है। प्रयाग की ही बात है। राहुलजी किसी सड़क से हो कर पैदल ही जा रहे थे। कोई अपरिचित श्रद्धालु व्यक्ति, जो उन्हें पहचानता था, दौड़ता हुआ आया और पैर पकड़ कर विनय करने लगा कि वह उसके यहाँ भोजन करें। राहुलजी, शायद, उसके एक दिन पहले किसी मन्त्री के घर खाने से इनकार कर चुके थे; किन्तु, उस अजनबी के प्रेम से उनका हृदय पिघल गया और भावातिरेक में आकर वे रोने भी लगे। जिन्हें राहुलजी को समीप से देखने का अवसर मिल चुका है, वे ही बतला सकेंगे कि उनकी आँखों में आँसू आने का अर्थ क्या होता है। 'सन्त-हृदय नवनीत समाना, कहा कविन पर कहै न जाना।' लेकिन, राहुलजी की यह भावप्रवणता तो परम्परागत है। एक बार तथागत ने भी लिच्छवी के राजकुमारों का निमंत्रण छोड़कर आम्रपाली वेश्या के यहाँ भोजन स्वीकार किया था।

बहुत सोचने पर भी, मैं सन्त और पंडित राहुल में भेद नहीं कर सकता। उनके अन्दर के सन्त और पण्डित का विकास, समान रूप से, हुआ है। उन दोनों का स्थान ऊपर-नीचे नहीं, बल्कि, आमने-सामने है। जहाँ उनकी विद्या अपरिमेय है, वहाँ उनका साधुत्व भी शिशु-सा सरल और निरभ्र आकाश के समान मलहीन है। मानव मात्र पर उनकी दृष्टि एक-सी रहती है और देश-भक्ति के मिथ्या-भिमान से वे परे हैं। भारतीय होते हुए भी, तिब्बत में रहते उन्हें कोई अभाव नहीं सताता, मानों, सारी मेदिनी ही उनके लिए एक समान हो। पहली ही दृष्टि में वे आपकी श्रद्धा पर अधिकार कर लेते हैं। आपको ऐसा लगता है,मानों, स्वर्ग से सद्यः-अवतीर्ण कोई देव-दूत आपके सामने खड़ा हो। बात-बात में अहिंसा, मैत्री और शील का आदर्श बिखेरते हुए वे ऐसे दीखते हैं, मानों, बौद्ध-कालीन संस्कृति, अतीत के म्युजियम से निकल कर वर्तमान तक सदेह चली आयी हो।

देखते-देखते, हिन्दी के बौद्ध साहित्य के भाण्डार को राहुलजी ने—पाली छोड़ कर—भारत की अन्य समस्त भाषाओं से आगे कर दिया। जिज्ञासु पूछते हैं, इस अजस्र शक्ति का रहस्य क्या है? उत्तर देना कठिन है। संकल्प की दृढ़ता और काम करने की अटूट शक्ति; इसके सिवा और क्या कहा जाय? राहुलजी खतरे को प्यार करते हैं और प्रतिज्ञा के बाद पैर पीछे नहीं हटाते। एक बार जो ठान लिया, फिर ठान लिया। किसी पथ पर पैर रखा तो सारी विपत्तियाँ एक साथ आ कर सामना करें, लेकिन, वे रंच भर भी पीछे नहीं हटेंगे। प्रतिज्ञा कर लेने पर राहुलजी का पौरुष, अपने पूरे चमत्कारों के साथ, जग उठता है। उस समय उन्हें यह ख्याल नहीं रहता कि देखनेवाले उन्हें क्या कहेंगे अथवा स्वयं उनकी क्या दुर्दशा होगी। जरा कल्पना तो कीजिये। राहुलजी लङ्का से तिब्बत को चलते हैं। साथ में केवल एक सौ रुपये हैं। पास-पोर्ट नहीं मिलता है। वे नेपाल में घुसते हैं। भारत में तिब्बत के विषय में भयंकर से भयंकर कहानियाँ प्रचलित हैं। हिमालय के पार उनका कोई परिचित या मित्र भी नहीं है। नेपाल-सरकार की चौकसी है कि कोई भारतीय, शिवरात्रि के बाद, नेपाल में रहने न पाये। राहुलजी एक महीने तक कोठरी में बन्द रहते हैं। फिर एक रात चुपके से निकल भागते हैं। छिप कर, औघट घाट होते हुए, दुर्भेद्य अरण्य को चीरते हुए, दुर्दम शिखरों को रौंदते हुए, वे

अकेले हिमालय को पार करते हैं और तिब्बत पहुँच कर आनन्दजी को केवल यह लिखते हैं :—

'प्रिय आनन्द !

वन्दे !

कार्यं वा साधयेयम्,
शरीरं वा पातयेयम् ।

तुम्हारा
रामोदारदास

जिस दिन मैंने दो पंक्तियोंवाले इस पत्र की कथा सुनी, मुझे रोमांच हो आया। हृदय में सहसा एक विश्वास जगा, राहुलजी के लिए दुनिया में कुछ भी असम्भव नहीं है। सचमुच, ऐसे पराक्रमी पुरुष को ईश्वर की आवश्यकता नहीं हो सकती। और ध्यान रहे कि यह वह मार्ग था, जिस पर नेपाल के प्रधान सेनापति के मतानुसार, अक्खड़-से-अक्खड़ नेपाली भी जाने की हिम्मत नहीं करता।

आज राहुलजी की जिस विद्या-बुद्धि का चारों ओर शोर है, उसका संग्रह बड़ी कठोर साधना के बाद हो सका है। उनकी अध्ययन-शीलता अपरिमेय है। पुस्तकों के बीच जब वे पड़ जाते हैं तब अपने-पराये का ध्यान उन्हें भूल जाता है। महीने आये और महीने गये, किन्तु, राहुलजी प्राचीन ग्रन्थों के बीच, पेट के बल लेटे हुए 'मुर्दों के बीच जीने' की कहावत चरितार्थ कर रहे हैं। नोट लेते-लेते कापियों का अम्बार लग गया है। पार्सल पर पार्सल आ रहे हैं, पर, उन्हें तृप्ति नहीं होती। घर के बाहर क्या हो रहा है, इसका उन्हें ध्यान ही नहीं रहता। अगर, दुर्भाग्यवश, कभी ज्वर आ गया तो सिर्फ उनके भोजन में बाधा पड़ती है, अध्ययन का अबाध क्रम उसी निश्चिन्तता से कायम रहता है ; उसमें कोई व्यवधान नहीं आता।

मेहनत का यह हाल है कि 'मज्झिमनिकाय' के तीन-तीन सूत्रों का अनुवाद वे रोज कर जाते थे। बुद्ध-चर्या का अनुवाद चल रहा है तो फुलस्केप के १५ ताव रोज भर जाते हैं। प्रूफ देखना हुआ तो आठ-आठ दिनों के लिए आये हुए काम को एक ही रात में करके लौटा दिया। ऐसी रातें तो अक्सर आती हैं जो

कलम की खुरखुराहट में ही गुजर जाती हैं। उनके जीवन में समय का माप कार्य है, दिन-रात नहीं। उनके इस अनवरत, दानवी अध्यवसाय को देख कर जायसवालजी ने उनसे कहा था, 'राहुलजी, इसी कठोर परिश्रम ने शंकराचार्य को, चढ़ती जवानी में ही, मार डाला। जरा इस बात को ध्यान में रखा कीजिये कि आप-जैसे मनीषी का जीवन देश के लिए मूल्यवान सम्पत्ति है।' इस पर राहुलजी ने विनोद से कहा—'डरने की कोई बात नहीं, मैं शंकर की आयु से अधिक जी चुका हूँ।'

मेंहदी का गुण लाली और अग्नि का गुण जैसे ताप है, उसी प्रकार, राहुलजी के स्वभाव की सब से प्रधान विशेषता उनकी बुद्धि-प्रियता और विचार-स्वातन्त्र्य है। उनकी दृष्टि में तर्क से जो कुछ समझने योग्य है, वह ग्राह्य, और जो कुछ इसके परे है, वह त्याज्य है। धर्म, राजनीति और साहित्य, सभी जगह वे गणित की-सी स्पष्टता चाहते हैं। जीवन में बुद्धि के सामने वे भावना को स्थान नहीं देते। बुद्धि जहाँ थक जाती है, वहाँ बैठ जाने में उन्हें भी सन्तोष है; क्योंकि उनका विश्वास है कि भावना जिस धूमिल, अथच, अस्पष्ट स्वप्न की ओर संकेत करती है, वह एक विशाल भ्रम के सिवा कुछ नहीं है। मनुष्यों की स्वतन्त्र चिन्ता के वे बहुत बड़े हामी हैं। सूक्ष्म अनुभूतियों के लोभ में, भावनामूलक, गोतीत ज्ञान के माया-जाल में फँस कर मनुष्य का मस्तिष्क पराजय स्वीकार कर ले, यह उन्हें सह्य नहीं हो सकता। इसीलिए, प्रमाण और अवतरण का मूल्य उनकी दृष्टि में नहीं के बराबर है। मानवीय बुद्धि की संतुष्टि के लिए प्रथम और अन्तिम प्रमाण बुद्धि ही होनी चाहिए। और जब व्यवहार में वे इस निर्धारित बुद्धि का प्रयोग करने लगते हैं, तब एक मनोरंजक स्थिति पैदा हो जाती है और उनका असाधारण व्यक्तित्व औसत मनुष्यों से प्रत्यक्ष ही भिन्न जान पड़ने लगता है। परलोक की बातें करते हुए वे, ठीक उसी भाव से, बोलते हैं जैसे दुनिया के विषय में बोलना चाहिए। बड़ी सहजता से कह जाते हैं कि देवताओं का उद्धार भी मनुष्य ही कर सकता है। वैदिक देवताओं की उन्होंने एक तालिका भी बना रखी है, जिसमें दिखलाया गया है कि पूषण, वृषाकपि, मन्यु, प्रभृति देवता कब से कब तक जीवित रहे। संभव है, उनकी ये बातें ऐसी हों जिनमें गांभीर्य थोड़ा, बाकी सब का सब व्यंग्य हो। किन्तु, वे अपने विचार-स्वातन्त्र्य का प्रयोग करने में वहाँ भी नहीं हिचकते, जहाँ उनकी आन्तरिक श्रद्धा

का सवाल हो। जिस समय राहुलजी के हृदय में 'बुद्ध, धर्म श्रौर संघ' की शरण जाने की इच्छा वेगवती हो उठी थी, उन दिनों वे तिब्बत में थे श्रौर जिस महाभिक्खु के प्रभाव से उनका अन्तर सिक्त हो चुका था, वे महास्थविर धर्मानन्दजी लंका में रहते हैं। कार्य की साधना के लिए तिब्बत में रहना जरूरी था श्रौर महास्थविर लंका से टल नहीं सकते थे। निदान, राहुलजी ने अपनी धार्मिक भावना को मिट्टी पर उतारा श्रौर गुरु के सामने यह प्रस्ताव लिख भेजा कि 'तार के जरिये मुझे प्रव्रज्या की दीक्षा दे दी जाय।' तार के जरिये प्रव्रज्या की दीक्षा तो नहीं मिली, क्योंकि वैसा करने से दीक्षा-दान की मर्यादा का नाश होता; किन्तु, इससे इस बात का पता चलता है कि बुद्धिवाद के सिलसिले में राहुलजी कितनी दूर तक जा सकते हैं।

धर्म श्रौर संस्कृति के आचारों के सम्बन्ध में वे बड़े ही निश्चिन्त श्रौर निर्द्वन्द्व दीखते हैं। बातें करते समय ऐसा भान भी नहीं होता कि जीवन में, किसी समय, उन्हें धार्मिक संघर्ष का सामना करना पड़ा हो। अपने को पापी समझने पर आत्म-दंश की जो पीड़ा, मनस्ताप की जो वेदना होती है, उससे वे सर्वथा अपरिचित दीखते हैं। वैष्णव रामोदारदास को मैंने नहीं देखा श्रौर मेरे पास इसका कोई प्रमाण नहीं है कि राहुलजी उस समय धर्म-भीरु थे या नहीं। किन्तु, आज तो बौद्ध दर्शन का अनीश्वरवाद उनके जीवन का अंग हो गया है। इस मामले में वे इतने निश्चिन्त हैं कि इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती कि यह नास्तिकता उनकी किसी सचेतन चेष्टा का परिणाम अथवा उनके जीवन की कोई उल्लेख्य घटना हो। ऐसा लगता है, मानों, यह उनके साथ ही पैदा हुई हो।

श्रौर यह सच है कि ईश्वर की भावना का तिरस्कार उन्होंने स्वतन्त्र चिन्ता के मार्ग को साफ रखने के लिए किया है।

बुद्धिवाद, संग्रह श्रौर त्याग के पहले, समीक्षा की आवश्यकता में विश्वास करता है। बुद्धिवादी किसी वस्तु को इसलिए नहीं दुत्कारता चूँकि सदियों से लोग उसे त्याज्य समझते आये हैं; त्यों ही, किसी भी विचार को वह इसलिए नहीं अपनाता चूँकि युग-युगान्तर से मनुष्य उसे श्रेष्ठ कहता आया है। यही कारण है कि तर्कशील राहुलजी कई ऐसी बातों का अनादर कर जाते हैं, जिनके अनादर की संभावना नहीं रहती श्रौर कई ऐसे विचारों का समर्थन कर देते हैं, जिन्हें सुनने में भी हमें पाप का बोध होता है। व्यावहारिकता उनके विचारों की आधार-

शिला है। उनका विश्वास है कि जिस अनुपात में हम आदर्शों की मूर्त्ति गढ़ कर उसे अन्धविश्वास-पूर्वक पूजते हैं, उसी अनुपात में, वास्तविकता का मूल्य न्यून और उसके अर्थ का वृत्त संकुचित हो जाता है। धार्मिक विषयों पर बोलते हुए उनकी यह भावना, अनायास ही, बाहर आ जाती है कि मनुष्य ठीक उन्हीं तत्वों की पूजा कर रहा है, जो उसके अभ्युदय, भविष्य और उसकी आवश्यकताओं के बिलकुल विपरीत हैं।

× × × × ×

परिश्रम में शंकर, उग्रता में दयानन्द और शान्तिप्रियता में तथागत के समान ; लेकिन, इस विशाल संग्रह का अंजाम क्या होगा ? क्या प्राचीन ग्रन्थों के उद्धार मात्र से राहुलजी की शक्ति अपनी उपयोगिता को प्रमाणित कर सकेगी ? इस चित्रांकण का प्रयोजन समीक्षा नहीं है, किन्तु, देखने में आया है कि युग-परिवर्तन का कार्य केवल लेखनी से नहीं चलाया जा सकता। उसका प्रधान साधन वाणी और आचार है। लेखनी, वाणी और चरित्र के योग से राहुलजी इतिहास के पृष्ठ पर क्या प्रभाव छोड़ जायँगे, इसकी प्रतीक्षा है।*

मधुवनी }

---

* यह निबंध सन् १९३८ या ३९ ई० में, हंस के रेखा-चरितांक में, अमिताभ के नाम से छपा था। —लेखक

पं० बालकृष्ण शर्मा नवीन

१—कुछ संस्मरण

उन दिनों हम श्रीनगर (काश्मीर) के नीडो होटल में ठहरे हुए थे, मैं अलग कमरे में और नवीनजी अलग कमरे में। एक दिन क्या देखता हूँ कि नवीनजी के कमरे में तीस-चालीस दियासलाइयों का एक पैकेट रखा हुआ है। मैंने पूछा, "इतनी दियासलाइयाँ किस वास्ते मँगवायी हैं?" नवीनजी बोले, "चिरंजीव! देख रहा हूँ कि दो-तीन दियासलाइयाँ आप रोज खो देते हैं। तो लीजिए, हम जितने दिन यहाँ और टिकनेवाले हैं, उतने दिनों का प्रबन्ध हो गया।"

मैं अपनी गलती याद करके जरा म्लान हुआ। किन्तु, नवीनजी का वात्सल्य देख कर आँखें छलछला आयीं।

दिल्ली विश्वविद्यालय में एक साल भाषण-प्रतियोगिता थी। उसके निर्णायकों में मैं और नवीनजी भी थे। इस प्रतियोगिता का कार्यक्रम रेडियो से प्रसारित किया जा रहा था और उसके परिणाम की घोषणा स्वयं नवीनजी को करनी थी।

परन्तु, परिणाम घोषित करने को, जबरन, उन्होंने मुझे भेज दिया। जब मैं मंच से उतरा, मैंने नवीनजी से पूछा, "आखिर, आपको हो क्या गया? परिणाम आपने स्वयं क्यों नहीं सुनाया?" वे बोले, "अचानक मुझे यह दिखायी पड़ा कि परिणाम घोषित करने के साथ छोटा-मोटा सुयश बँधा है। तो यह सुयश मैं अब अपने अनुजों को देना चाहता हूँ। मैं उठने-उठने को हो रहा था कि, अकस्मात्, आत्मा की डाँट सुनायी पड़ी और मैंने तुम्हें, बरबस, मंच पर भेज दिया।"

वैसे, बात बिलकुल छोटी है, किन्तु, इस छोटे-से सूराख से भी नवीनजी का हृदय साफ दिखायी देता है।

एक साल साहित्य अकादेमी के वार्षिक पुरस्कार के लिए नवीनजी की "ऊर्मिला" का नाम कई जगहों से भेजा गया। किसी तरह नवीनजी को यह

बात मालूम हो गयी। फौरन, उन्होंने अकादेमी को विनम्रतापूर्वक यह सूचना दे दी कि उनकी पुस्तक पर विचार न किया जाय। और पत्र भेज कर उसकी कापी लिये हुए आप मेरे घर पधारे। मैंने चकित और दुःखित हो कर कहा, "आपने यह क्या किया? और पत्र लिखना ही था तो मुझसे पहले क्यों नहीं पूछा?" वे मेरी पीठ थपथपाते हुए बोले, "चिरंजीव, तुम्हारी इच्छा मैं जानता था। किन्तु, सच यह है कि सुयश और पुरस्कार अब मेरे अनुजों को मिलना चाहिए।"

मैं मधुमेह से पीड़ित रहता हूँ और कोशिश करता हूँ कि, जहाँ तक चल सके, खान-पान में कुछ संयम बरता करूँ। मगर, मेरी संयमशीलता पर जैसा कठोर पहरा नवीनजी रखते हैं, वैसा मैं खुद भी नहीं रख पाता। उधर दद्दा (श्रीमैथिलीशरणजी) का यह हाल है कि उनके घर यदि खुल कर न खाइये तो व सन्मन से दुःखी हो जाते हैं। दद्दा को मेरी एक कमजोरी से बड़ा प्यार है। खीर, वैसे, मधुमेही को नहीं खानी चाहिए, किन्तु, खीर की कटोरी सामने आ जाय तो मैं धर्म-संकट में पड़ जाता हूँ। दद्दा के घर,अक्सर, होता यह है कि खीर की कटोरी तो मेरे सामने होती है, किन्तु,मैं उसमें चम्मच तब तक नहीं डाल पाता जब तक दद्दा और नवीनजी के बीच छोटी-मोटी बहस न हो जाय। एक बार तो यह बहस कटुता तक पहुँच गयी और मुझे थोड़ा दुःख भी हुआ। किन्तु, होता क्या? मेरी रसनालोलुपता और दद्दा की बुजुर्गी जब एक ओर हो गयी, तब नवीन जी हार गये और यह कह कर उन्होंने मुझे खाने की छूट दे दी कि "तो ले, मरे खा कर। आप तो यही चाहते हैं।"

एक बार जब मैं कंस्टीटयूशन हाउस में रहता था, नवीनजी घूमते-घामते मेरे घर आ पहुँचे। ठीक उसी समय, बिहार के प्रसिद्ध गायनाचार्य, पंडित रामचतुर मल्लिक भी मुझसे मिलने को आये हुए थे। रामचतुरजी दरभंगा जिले के रहने वाले हैं जो जिला विद्यापति के गीतों का गढ़ समझा जाता है,इसलिए, मैंने उनसे कहा, "रामचतुरजी, यह बड़ा ही दुर्लभ सुयोग है कि आप नवीनजी के सामने बैठे हुए हैं। तबला और तानपुरा तो यहाँ हैं नहीं। तो कंठस्थ ही हो जाय विद्यापति का एक पद। जरा नवीनजी भी सुन लें कि कविशेखर की कविताएँ हम किस तरह गाते हैं। रामचतुरजी ने आलाप करके एक पद आरंभ कर

दिया। उधर कविता का गायन शुरू हुआ, इधर नवीनजी की आँखों से आँसुओं की धारा फूट चली। और, बिला मुबालगा, जब तक गीत चलता रहा, नवीनजी रोते रहे।

गीत सुन कर जब नवीनजी चले गये, रामचतुरजी ने मुझसे कहा, "संगीत सुन कर इस तरह रोते तो मैंने किसी को नहीं देखा था।" मैंने उन्हें समझाया कि इस भ्रम में मत रहियेगा कि उनके आँसू आपके स्वरों के आघात से निकले हैं, यद्यपि, केवल स्वर भी उन्हें रुलाने को यथेष्ट होते हैं। उनके भावावेश का असल कारण विद्यापति की भाषा थी, विद्यापति का कवित्व और कविशेखर का नाम था। साहित्यिक विदग्धता से युक्त कोई भी वाक्य-खंड सुनते ही नवीनजी की आँखें सजल हो जाती हैं और सजी हुई वाक्यावली अथवा कोई अच्छी कविता तो वे रोये बिना सुन ही नहीं सकते। नवीनजी के अश्रु करुण रस के ही अधीन नहीं हैं। कविता चाहे किसी भी रस की हो, कवित्व का अभिनन्दन वे हमेशा आँसुओं से करते हैं। कितने आश्चर्य की बात है कि उस दिन रामचतुरजी ने "आकुल चिकुर बेढ़ल मुख सोभ" वाला पद गाया था, जिसमें वर्णन पुरुषायित का है।

माखनलालजी और भगवती बाबू को छोड़ कर छायावाद के, प्रायः,सभी अग्रणी कवि संस्कृतनिष्ठ भाषा के प्रेमी थे। किन्तु, नवीनजी में जब-तब कुछ अरबी-फारसी के शब्द भी दिखायी दे जाते थे। जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया, निरालाजी की कुछ कविताओं में अरबी-फारसी के शब्द बढ़ते गये, किन्तु, नवीनजी की भाषा में से ऐसे शब्द लुप्त होने लगे। और, संविधान-परिषद् के समय के हिन्दी-हिन्दुस्तानी-विवाद का प्रभाव तो ऐसा गंभीर हुआ कि नवीनजी, चुन-चुन कर, अरबी-फारसी के शब्दों का बहिष्कार करने लगे। एक दिन तो बड़े प्यार से उन्होंने मुझे समझाया था, "मित्र, कविता हमारे अन्तःपुर की भाषा है। इसमें तो अरबी-फारसी के शब्द मत रखो।"

एक घटना और याद आती है। श्रीनगर में मैं दो-चार व्यक्तियों के सामने "रश्मिरथी" का एक अंश सुना रहा था। उसमें कर्ण शल्य से कहता है,

"समझोगे नहीं, शल्य! इसको, यह करतब नादानों का है,
यह खेल जीत से बड़े किसी मकसद के दीवानों का है।"

सुनते ही, नवीनजी के मुख से बेसाख्ता निकल पड़ा, "नो, नो, कर्ण कांट स्पीक इन दैट लैंग्वेज।" नहीं, नहीं, कर्ण उस प्रकार की भाषा नहीं बोल सकता।

द्वापर का चरितनायक अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग करे, इसे वे किसी भी तरह स्वीकार नहीं कर सकते। नवीनजी को चोट कहाँ पर लगी थी, यह सोच कर उनकी ओर मैं गदगद भाव से देखने लगा।

एक किस्सा और है। सन् १९५४ या ५३ ई० में मैंने "नर्तकी" नाम की एक कविता लिखी जो "नील कुसुम" में संगृहीत है। उसमें अरबी-फारसी के भी कुछ शब्द हैं। वह कविता जब मैंने नवीनजी को सुनायी, उन्होंने कागज मुझसे ले लिया और मैथिलीशरणजी के साथ बैठ कर उन्होंने, भाषा की दृष्टि से, पूरी कविता का संशोधन कर डाला। स्पष्ट ही, यह संशोधन "अगर" को "यदि" तथा "चीज" को "वस्तु" बनाने के लिए था। जब कविता उन्होंने मुझे लौटायी, मैंने विनयपूर्वक निवेदन किया, "संग्रह में तो इस कविता का मूल-रूप ही जायेगा, किन्तु, यह संशोधित प्रति भी मैं जुगा कर रखूँगा।"

गाँवों में एक कहावत चलती है, "सींग पकड़ कर मरकहा बनाना।" दिल्ली के उन नेताओं ने भी नवीनजी को मरकहा बना दिया, जो अरबी-फारसी शब्दों का, जरूरत से ज्यादा, पक्षपात कर रहे थे। स्वेच्छया तो नवीनजी अरबी-फारसी शब्दों का यत्किंचित प्रयोग करते ही थे, किन्तु, जब उन्होंने देखा कि संविधान के निर्णयों के बाद भी, दिल्ली में हिन्दी-विरोधी षडयन्त्र, बल के साथ कायम है, तब उनका ब्रह्म क्रुद्ध हो उठा। कहते हैं, संविधान-परिषद् के समय पार्टी की एक सभा में उन्होंने प्रधान मन्त्री को यह कह कर निस्तब्ध कर दिया था कि "ब्राह्मण हो कर आप यह कहते हैं कि उर्दू आप पर लादी नहीं गयी, वह आपकी मातृभाषा है? उर्दू आपके भी पूर्वजों पर लादी ही गयी थी।"

किन्तु, किस्सा इतना ही नहीं है। हिन्दी के इस अत्यंत कठोर प्रहरी के हृदय में हिन्दुस्तान के लिए जो प्यार है, वह उसके हिन्दी-प्रेम से भी ऊँचा और महान है। राजभाषा-आयोग में जब एक विरोधी ने यह झगड़ा खड़ा किया कि हिन्दी के आने से हिन्दुस्तान की एकता का नाश होगा, तब नवीनजी, वनराज की

भाँति, गरज उठे, "यदि हिन्दी हमारी राष्ट्रीय एकता में बाधक हुई, तो मैं उसे पाँच फैदम नीचे गाड़ दूँगा।"

हाय! वह वनराज आज कितना वाणीविहीन और विवश है! परमात्मा की इच्छा।

३ दिसम्बर, १९५९ ई० }

२—एक अभिनन्दन पत्र

मान्यवर नवीन जी, मानपत्रों की भाषा में अपना देश अतिरंजन की छूट देने का अभ्यासी रहा है। किन्तु, आपका मानपत्र इस छूट का लाभ उठाये बिना भी लिखा जा सकता है, यह आपकी नरोत्तमता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

साहित्य में आपकी प्रसिद्धि एक ऐसे कवि की प्रसिद्धि रही है जो प्रचारक नहीं, शुद्ध कलाकार है; जो मनुष्यों को सुधारने के लिए नहीं, उन्हें लोकोत्तर आनन्द देने को गान करता है; जिसने शरीर समाज को और मन अपनी कला को दे रखा है; जो केवल दृश्य ही नहीं, अदृश्य वास्तविकता का भी विश्वासी है, अतएव, जिसका सारा क्रिया-कलाप उस एक दिशा की ओर उन्मुख है जिस दिशा में "क्वासि ?" की चिरंतन टेर गूँज रही है।

किन्तु, साहित्य में, और साहित्य से बाहर, आप एक और रूप में भी पूजित रहे हैं जो निर्भीक योद्धा और तेजस्वी देशभक्त का रूप है। सामान्यतः, कला अपने को नारी समझती है और संघर्षों के समय भी वह खुले रणक्षेत्र में जाना नहीं चाहती। परन्तु, प्रत्येक युग में ऐसे कलाकार उत्पन्न होते हैं जो कला की इस सीमा को नहीं मानते, जिनके उद्घोषों और आचरणों से प्रत्येक युग में अर्धनारीश्वर की कल्पना विकास पाती है और जिन्हें देखकर मानवता को बार-बार यह स्मरण होता है कि स्नेह और कोमलता की भी शोभा उन्हीं वीरों को लेकर है जिनका चरित्र बड़ा और हृदय विशाल है।

प्रेम करै कोई सूरमा, सीस दच्छिना देय,
लोभी सीस न दे सके, नाम प्रेम का लेय।

कवि, योद्धा और देशभक्त, आपके ये तीन रूप ऐसे हैं जिन्हें सबने देखा और प्रणाम किया है। किन्तु, इन सब के ऊपर आपका जो मनुष्यवाला रूप है उसे तो

केवल वे ही जानते हैं जिन्हें आपके निकट संपर्क में आने का सुयोग मिला है। किन्तु, आपका यह रूप कितना कोमल, कितना निरीह और कितना पूजनीय है! बहुत-से गृहस्थ सन्त का बाना धारण करके धर्म और राजनीति में पूजा प्राप्त कर रहे हैं। आप, वास्तव में, संत हैं जिसे गृहस्थ के बाने में रहना पड़ा है।

हम अनिकेतन, हम अनिकेतन।
हम तो रमते राम, हमारा क्या घर? क्या दर? कितना वेतन?
ठाट फकीराना है अपना, बाघम्बर सोहे अपने तन।

जीवन में सिद्धियाँ अनेक हैं और उनमें से कुछ ऐसी भी हैं जिन्हें पाने को नीचे झुकना पड़ता है। और ऐसा भी होता है कि जो लोग झुक कर मोती उठा लेते हैं, कोई खास युग उनमें से भी कुछ को सम्मान देता है। किन्तु, युग-युग का सम्मान उनके लिए है जो झुकना नहीं जानते। टंडन, निराला, नवीन और माखनलाल, ये एक नहीं, अनेक युगों के लिए पैदा होते हैं और ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता है, उनके चारित्रिक गुणों का प्रकाश और भी बढ़ता जाता है।

बन्धुवर! यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि आप अपने तेजस्वी जीवन के बासठ वर्ष पूर्ण करके आज उसके तिरसठवें सोपान पर पाँव रख रहे हैं। इस परम पुनीत अवसर पर हम आपका अभिनन्दन उस मस्त कवि के रूप में करते हैं जिसने चालीस वर्षों तक निरन्तर वीरता, प्रेम और अध्यात्म का महागान गाया है; आपका अभिनन्दन हम उस निर्भीक योद्धा के रूप में करते हैं जिसने हमेशा स्वतंत्रता-संग्राम की अगली पंक्ति में रहकर सारी यातनाएँ झेलीं और, स्वाधीनता के बाद भी, जो अपनी निष्ठा पर चट्टान के समान अडिग खड़ा रहा है; और सबसे बढ़कर, आपका अभिनन्दन हम उस परम त्यागी देशभक्त के रूप में करते हैं, जिसने देश को अपना सर्वस्व तो दे डाला, किन्तु, बदले में, अक्षत और रोली के सिवा और कोई वस्तु नहीं ली।

भगवान आपके शरीर को रोगमुक्त करके आपको शतायु करें, यही हमारी एकान्त प्रार्थना है।*

दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य-सम्मेलन
८ दिसम्बर, १९५९ ई०

---

* प्रार्थना सुनने के बदले प्रभु ने नवीनजी को २९ अपरेल सन् १९६० को अपने पास बुला लिया।

३. मिट्टी का पत्र आकाश के नाम

प्रिय नवीनजी, यह शीर्षक मैंने इसलिए बाँधा है कि आप पहले भी आकाश थे और आज भी आकाश हैं। मैं पहले भी मिट्टी था और आज भी मिट्टी हूँ। विधि-विधान से मिट्टी और आकाश बहुत समीप आ गये थे। लेकिन, अब एक भारी भिन्नता उत्पन्न हो गयी है। अब आप वह आकाश हैं जिसकी सारी मिट्टी आग ने चाट ली है। और मैं वह मिट्टी हूँ जिसका आकाश पहुँच से परे, बहुत दूर चला गया है। कोई भी तो उपाय नहीं कि हम अब आपको देख सकें, आपसे बातें कर सकें, आपके सान्निध्य में पहुँच कर अपने भीतर जरा ऊँचाई का बोध कर सकें।

अब कहाँ पाऊँ तुम्हें मैं, कुछ कहो तो प्राण मेरे !
किस सघन पट में दुरे हो ओ चिरन्तन ध्यान मेरे !

एक ही नवीन आप कितने अधिक रूपों में पूजित रहे !

भारत-माता के आप लाड़ले लाल थे, ऐसा वीर लाल, जो माता की गौरव-रक्षा के लिए कोई भी बलिदान बिना हिचकिचाहट के दे सकता था; ऐसा वीर लाल, जिसकी दृष्टि में देश के सामने किसी भी चीज़ की कोई कीमत नहीं थी, न वैयक्तिक सुयश और सुख की, न मित्र और बन्धु-बान्धव की। और ऐसा वीर लाल, जिसे पाकर किसी भी माता की गोद निहाल हो सकती है।

पत्रकारों के आप शिरोमणि थे। संपादक और पत्रकार देश के मानस और मुख होते हैं। मानस जो भी चाहे, सोच सकता है, और मुख का धर्म है कि वह बोलने योग्य हर बात को निर्भीकतापूर्वक बोल दे। आपने जो कुछ सोचा, निर्भीकता से सोचा; आप जो भी बोले, निर्भीकता से बोले। मेरा बल बढ़ाने को आप मुझे कविशार्दूल कहा करते थे। किन्तु, यह केवल अतिशयोक्ति थी। असली नर-शार्दूल तो आप थे जिसकी उपस्थिति में हर कोई उसीका रुख देखकर बोलता था। और जब उस नर-शार्दूल के बोलने की बारी आती, बादलों में दरारें पड़ जातीं, छतें चरमराने लगतीं और सत्य का प्रकाश अपने स्वाभाविक रूप में खुल कर बाहर आता था। हाय, उस शार्दूल की दहाड़ अब कभी भी सुनने को नहीं मिलेगी।

तेरी सूरत से किसी की नहीं मिलती सूरत,
हम जहाँ में तेरी तस्वीर लिये फिरते हैं।

आप कवि थ, ऐसा कवि जिसकी भावना का एक छोर आकाश से और दूसरा पृथ्वी से लगा था; जो एक कान से महारुद्र के ढक्के का निनाद और दूसरे से प्रियतमा के वक्ष की निगूढ़ धड़कनें सुना करता था; जिसने देश की छाती में धधकती हुई आग को उसी तेजस्विता से व्यक्त किया था, जिस तेजस्विता से ज्वालामुखी पर्वत प्रज्वलित लावा उद्गीर्ण करता है; और जिसने जीवन में, कहीं से भी, टपकनेवाले मधुविन्दुओं को रसगीतों की मादन मंजूषा में सँजोकर अमर कर दिया है।

हाय, वह हृदय कैसा था जिसके भीतर अंगारे और इन्द्रधनुष बारी-बारी से उदय लेते थे! हाय, वह कंठ कैसा था जिससे आग और मधु, समान गति से, प्रवाहित होते थे!

कैसी कठोर थी वह ज्वाला जिसे हृदय में धारण कर आपने प्लुत में उठ कर पुकारा था,

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ
जिससे उथल-पुथल मच जाये।

और फिर कैसी थी मधुरता की वह तरंग जिस पर चढ़ कर आपने मस्ती में झूम कर गाया था,

सखि, वन-वन घन गरजे।
श्रवण निनाद-मगन, मन उन्मन, प्राण-पवन-कण लरजे।

आपके जाने के बाद, आपकी कविताओं में से एक नया-सा अर्थ ध्वनित होने लगा है, एक नयी-सी आभा निकलने लगी है। मन में कचोट उठती है कि आपने दिया तो सब कुछ, किन्तु, हम उसका कुछ भी प्रतिदान नहीं चुका सके। यहाँ तक कि हम लेखनीधर लोग जनता से यह कहना भी भूल गये कि नवीनजी की कविताओं के गुण या अवगुण क्या हैं। शरबत पीकर रसिक उसके स्वाद की चर्चा भी करते हैं। किन्तु, हम कृतघ्न अपना यह कर्त्तव्य भूल गये। लेकिन, जहाँ मनुष्य अपनी कृतघ्नता को पहचानता है, उसका सुधार वहीं से होने लगता है। इधर एक महीने के भीतर (और आपको गये आज ठीक एक मास ही हो रहा है) जो कुछ देखा है, उससे मुझे आशा होने लगी है कि आपकी रचनाओं का विधिवत् अध्ययन अब आरम्भ होने ही वाला है। आपके क्रान्ति-गान और

आपके रस-गीत मरनेवाले नहीं हैं। उनके भीतर रणारूढ़ भारत के मन का ताप भरा हुआ है। उनके भीतर छायावाद-युग की वह कोमल किरण चमकती है जो एक अल्हड़, निर्भीक और अलमस्त कवि के निश्छल हृदय पर पड़ी थी; एक ऐसा कवि, जिसे बनाव-सिंगार और पच्चीकारी के लिए अवकाश नहीं था; जो अपने उमड़ते हुए भावों से, रातों रात, मुक्त हो जाने को इसलिए अधीर होकर लिखता था कि सुबह फिर समरांगण की पुकार उसकी प्रतीक्षा कर रही थी।

नवीनजी, आप महात्मा गाँधी के अनुयायी थे, किन्तु, जिस ज्वाला से दग्ध होकर बहुत-से नौजवान उन दिनों सशस्त्र क्रान्ति की साधना में औवट घाटों की खाक़ छान रहे थे, उस आग के प्रति भी आपकी सहानुभूति थी। सत्याग्रह के विफल हो जाने पर आपने खीझ, निराशा और बेचैनी में भरकर ही लिखा होगा,

आज खड्ग की धार कुंठिता
और रिक्त तूणीर हुआ।
विजय-पताका झुकी हुई है,
लक्ष्य-भ्रष्ट यह तीर हुआ।

और निराशा की व्याकुलता में ही आपका ध्यान अहिंसा के उस विकल्प की ओर गया होगा जो क्रान्तिकारियों का ध्येय था। मन की इसी व्याकुल स्थिति में आपने उस प्रचण्ड, विस्फोटक क्रान्तिगान की रचना की जिसका, मेरी अपनी मनोदशा के निर्माण में, बहुत बड़ा हाथ था।

गिरि-गह्वर में, वन-उपवन में
अथवा किसी शून्य प्रान्तर में
भटक रहे कुछ दीवाने हैं
ले आशा-प्रदीप निज कर में।
भर, इनके खप्पर को भर
लोहू से नहीं, लपट से आ री!
जल उठ, जल उठ, अरी, धधक उठ,
महानाश की भट्ठी प्यारी।

आग के पास पहुँच कर आग की सत्ता से आँखें फेर लेना, यह उस युग का धर्म बन गया था। आपने भी लोहू का वर्जन यहाँ इसलिए किया कि अहिंसक योद्धा

के रूप में आप सारे देश में प्रसिद्ध थे, अन्यथा, हिंसक क्रान्ति का विकल्प ऐसा नहीं था जिससे आपको घृणा रही हो। गाँधी-युग में भी, महात्मा के ऐसे अनेक अनुयायी थे, जो अनजाने ही परशुराम के भी शिष्य थे, जो मन ही मन "शापादपि शरादपि" के दोनों विकल्पों में विश्वास करते थे। क्या मेरा यह अनुमान गलत है कि आप भी शाप और शर, दोनों की उपयोगिता में विश्वास करते थे ?

फिर यह भी हुआ कि जब श्री सुभाषचन्द्र बोस, कांग्रेस की अध्यक्षता के लिए, श्री पट्टाभि सीतारमैया के विरुद्ध खड़े हुए, तब अपना मत आपने सुभाष बाबू को दिया। लेकिन, दूसरे ही दिन, जब गाँधीजी का यह वक्तव्य प्रकाशित हुआ कि पट्टाभि की हार मेरी हार है, तब आपने सुभाष बाबू को तार देकर सूचित किया कि यदि आप गाँधीजी के विरुद्ध जीते हैं, तो अपना वोट आपको मैंने गलती से दिया है।

फिर वही बहादुरी! फिर वही निर्भीक व्यवहार! पहली निर्भीकता अपने गुरु और नेता के विरुद्ध; और दूसरी निर्भीकता उस जनमत के खिलाफ जो ऐसे अवसरों पर चकित रह जाता है। क्योंकि कौन है जो बैलट बाक्स के अभेद्य अँधियाले में ग़लती करके फिर तार से उसका ढिंढ़ोरा पिटवायेगा ? मगर, आत्मा की टीस को, 'कांसेंस' के आन्तरिक क्रन्दन को, वे नहीं दबाते, जो ईमानदार होते हैं।

आप भावुक थे जो दूसरों की पीड़ा ही देख कर नहीं रोता, उन्हें विशेष रूप से प्रसन्न देख कर भी आनन्द के आँसू बहाता है। आप मित्र थे, और ऐसे मित्र जो बन्धु-रक्षा को उठे तो यही भूल जाय कि उसकी अपनी गरदन पर भी एक सिर है जो काटा जा सकता है। आप परोपकारी थे, जो अपना पेट काट कर भी दूसरों को भोजन देता है। बीमारी के दिनों में भी आपने अपने पथ्य और चिकित्सा के लिए बचाये हुए पैसों का मोह नहीं किया और उनमें से, कुछ न कुछ हिस्सा, आप बराबर जरूरतमन्द लोगों को देते ही रहे। कितनी विचित्र बात है कि दान की प्रवृत्ति, अक्सर, उनमें होती है जिनके पास धन नहीं होता और धन बहकर, बहुधा, उनके पास जाता है, जो दान देने में असमर्थ होते हैं। मगर, जो दानी है, वह धनी होगा भी कैसे ?

सूरा के तो सिर नहीं, दाता के धन नाहिं,
पतिबरता के तन नहीं, सुरति बसे मन माँहि।

और अपनी निर्धनता, अपने फक्कड़पन पर आपको नाज़ भी कितना था ! निर्धनता का अभिमान कोई आपसे सीख ले। अनिकेतन होने का गौरवमय आनन्द कोई आपमें देख ले। आपके निर्माण में हरिश्चन्द्र की अलमस्ती का ही नहीं, कबीर के फक्कड़पन का भी थोड़ा पुट पड़ा था।

हम अनिकेतन, हम अनिकेतन।
हम तो रमते राम, हमारा क्या घर, क्या दर, कितना वेतन ?

× × ×

दान का प्रतिदान क्या प्रिय ?
स्वयं को जब दे चुका, तब प्रतिग्रहण का मान क्या प्रिय ?

× × ×

हम से दूर रहो री संतत, हम हैं मस्त फकीर,
बाघम्बर से बँधे कहो, क्यों चीनांशुक का चीर ?
हमें मिला है सतत अटनका यह प्रसाद-अभिशाप,
गृही लोग हम अनिकेतन की क्या जानें सुख-पीर ?
क्या पूछो हो पता हमारा ? हम हैं अगृह, अनाम,
यही पता है कि है कहीं भी अपनी नहीं कुटीर।

दानी बनकर जीने में जो गौरव और आत्मसंतोष है वह परिग्रह अपना कर जीनेवालों को नहीं मिलता। किन्तु, हम गृहस्थ जानते हैं कि यह साधना कितनी दुःसाध्य, कितनी कठोर है। आप घूमते-घामते गृहस्थी के दायरे में आ तो गये थे, लेकिन, गृहस्थी कभी आपको बाँध नहीं सकी। संचय के नाम से ही आपको घृणा थी। धन तो क्या, आप पत्रों और पुस्तकों का भी संचय नहीं करते थे। मात्र जाँघिया पहने हुए, फकीराने ठाट से, घर से बाहर निकल पड़ने में आपकी अन्तरात्मा कितनी प्रसन्न होती थी ! मन से ऊँचाई पर चढ़ा हुआ मनुष्य तन की सजावट पर ध्यान नहीं देता।

सतगंठी कोपीन है, साधु न मानै संक,
राम अमल माता रहै, गिनै इन्द्र को रंक।

× × ×

छाजन, भोजन दे भगवन्त,
अधिक न बाँछै साधू-सन्त ;
रज्जब यह संतोषी चाल,
माँगैं नहीं मुलुक औ माल।

लेकिन, फक्कड़पन में जो एक झाँस होती है, वह आपमें नहीं थी। त्याग उस त्यागी का भार बन जाता है,जो बराबर यह कहता चलता है कि मैंने त्याग किया है। आप कितने महान् थे कि आपने कभी भी किसी को अपने त्याग, औदार्य एवं दान की कहानी विदित नहीं होने दी। और इस विनम्रता में किसी सौदागरी अथवा बनियापन का भाव नहीं था। आप इस बात से अवगत ही नहीं थे कि आपकी जिन्दगी त्याग और परोपकार की जिन्दगी रही है। सूर्य क्या यह जानता है कि वह संसार का अँधेरा दूर करता है ? और वायु क्या यह जानती है कि वह शीतलता वितरण करती है ? आप गीता के कर्मयोगी थे और त्याग आपका स्वभाव था।

और आपकी वह नर्मी ! वह खाकसारी ! वह नम्रता ! और चींटी से भी दब कर जीने का वह अतुलनीय विनम्र भाव ! जब से मैं जानता हूँ, आप बराबर साधुत्व की ओर अग्रसर हो रहे थे और, दिनोंदिन, अधिक से अधिक विनयशील होते जाते थे।

कबिरा चेरा संत का, दासन का परदास,
कबिरा ऐसा ह्वै रहा, ज्यों पाँवतले की घास।

आजकल हम जिसकी भी विनम्रता की प्रशंसा करना चाहते हैं, उसे सीधे अजातशत्रु कह डालते हैं। किन्तु, सच तो यह है कि साहित्य में अजातशत्रु केवल आप थे। और लोगों में से, प्रायः, प्रत्येक के विरुद्ध धीमी कानाफूसी चला करती थी, लेकिन, आपसे जो रुष्ट हो, ऐसा कोई व्यक्ति मुझे नहीं मिला। और मिलता भी कहाँ से ?

जग में बैरी कोय नहीं, जो मन सीतल होय,
या आपा को डारि दै, दया करे सब कोय।

आप सबके आश्रय, सब के सहायक और सबके मित्र थे। और मुझे तो अपने पास केवल आपने ही बिठाया था। याद है, दंशों से आहत होकर मैं आपके

सामने किस प्रकार छटपटाता था और आप मेरे व्रणों पर किस प्रेम से अपने पीयूष का लेप चढ़ाते थे ? मगर, हायरी किस्मत !

दिल तो समझ रहा था तुम्हें आखिरी इलाज,
तुम दर्दे-दिल को और बढ़ा कर चले गये।

दोस्तों के दंश आपने भी झेले होंगे। जिनसे फूल की उम्मीद थी, उनसे आपने भी पत्थर पाया होगा। किन्तु, जिस वेदना की अनुभूति से उत्तेजित होकर सामान्य मनुष्य पत्थर का जवाब पत्थरों से देता है, उसी वेदना की अनुभूति को लेकर सत्कवि कोई सूक्ति बना देते हैं।

हम विषपायी जनम के, सहे अबोल-कुबोल,
मानत नेकु न अनख कहुँ, जानत आपन मोल।

सूक्ति ही सही, किन्तु, यह आपकी अनुभूतियों का निचोड़ है और उन असंख्य अभागे-विषण्ण लोगों के लिए शान्ति का स्रोत, जिनकी किस्मत में, प्रेम और सद्भावना के बदले, प्रेम और सद्भावना की प्राप्ति नहीं लिखी है।

साहित्य, राजनीति, मित्रता और कवित्व तथा गोष्ठियों और तमाम हाहा-ठीठियों के आवरण में,आपके मन का एक भाग बराबर उस रहस्य की ओर उन्मुख रहता था जो जीवन का परम रहस्य है। हम कहाँ से आये हैं और कहाँ जायेंगे, ये प्रश्न निरन्तर आपकी आत्मा के अंतराल में गूँजते रहते थे और कविता की कलम उठाते ही आप, प्रायः, इसी रहस्य की खोज में तल्लीन हो जाते थे। मृत्यु का जो एक प्रिय पक्ष है, वह आपकी कल्पना में अनेक बार उभरा था।

प्रियतम, तव तमहर चरणों में––
जीवन-सलिल ढरे तब भय क्या शत मरणावरणों में ?
जब तुम बिहँसोगे, बलि जाऊँ, मम रस छलक उठेगा,
बिन्दु-बिन्दु में बिम्ब तुम्हारा बरबस झलक उठेगा।
किन्तु, कहो, दिक्काल-आवरण यह कब तलक उठेगा ?

सो,आपके जीवन-सलिल की धार प्रियतम के चरणों में आखिर को ढल गयी। दिक्काल का आवरण उठ गया और जो यहाँ प्रच्छन्न था, वह वहाँ प्रत्यक्ष हो उठा है।

सुहागिन, गाओ मंगलाचार,
हम घर आये राम भरतार।
वसुधा सब फूलै-फलै, धरती अनँत, अपार,
गगन गरजि जल-थल भरै, दादू जैजैकार।
गगन गरजि बरसै अमी, बादल गहिर, गभीर,
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भींजै दास कबीर।

दुनिया मात्र विरहिणियों का देश है। केन्द्र से छूटकर बिखरी हुई किरणें फिर केन्द्र में लौट जाने को बेकरार हैं। हममें से एक विरहिणी के विरह का अन्त हो गया। वह अपने प्रियतम को पाकर सनाथ हो गयी है। इसी प्रकार, हम सबके विरह का अन्त होगा।

हर साँस के साथ जा रहा हूँ,
मैं तेरे करीब आ रहा हूँ।

लेकिन, यह दर्शन क्या यथेष्ट है? इस कल्पना से क्या उस चोट में कमी आती है जो आप हमें देकर गये हैं? आँख मूँदने पर कबीर और दादू का सहारा. भले ही कारगर हो जाय, लेकिन, आँख खोलने पर तो उदासी-उदासी ही नजर आती है।

आप उनतीस अपरेल को संसार से सिधारे, मैं तीन मई को दिल्ली छोड़कर घर आ गया। आपका यह पलायनवादी शिशु संघर्ष से भागता रहा है। वह आज भी उदासी, मुर्दनी और शून्यता से भाग कर घर में छिप गया है। लेकिन, पलायन क्या चिरकाल तक संभव होता है? दिल्ली तो जाना ही होगा। लेकिन, जिस दिल्ली में आप नहीं, उसमें मजा भी अब क्या है? साहित्यिकों का जमघट, सेन्ट्रल हाल का हंगामा और मैथिलीशरणजी की मजलिस तो वहाँ होगी, लेकिन, कहीं भी आप नहीं होंगे। आप, जो आज भी मरे हुए-से नहीं जान पड़ते। और आप, जिसे मन की आँखें अब भी देख रही हैं।

वो कब को आये भी औ गये भी, नजर में अबतक समा रहे हैं;
वो चल रहे हैं, वो फिर रहे हैं, वो आ रहे हैं, वो जा रहे हैं।

पटना
२९ मई, १९६० ई०

पंडित सुमित्रानन्दन पन्त

हिन्दी में छायावाद का आन्दोलन जब पूरे उभार पर था, उस समय हिन्दी-वालों के सबसे प्रिय कवि पंतजी थे, क्योंकि जो लक्षण द्विवेदीयुगीन काव्य से छायावादी काव्य को अलग करनेवाले थे, उनका, सबसे अधिक विकास, उन्हीं की कविताओं में दिखायी देता था। विरासत उन्हें भारत-भारती और जयद्रथ-वध की भाषा की मिली थी, किन्तु, छायावाद की भाषा का आदर्श रूप पल्लव की कविताओं में प्रकट हुआ। भारत-भारती और पल्लव की भाषाओं में जो भेद है, उसकी सृष्टि, मेरा ख्याल है, सबसे अधिक पंतजी की चेतना की प्रयोगशाला में हुई थी।

जीनियस का लक्षण है कि साहित्य की जितनी सेवा वह अपनी लेखनी से करता है, उतनी ही अथवा उससे भी अधिक सेवा वह उन सैंकड़ों परिचित-अपरिचित लेखनियों से करवा लेता है जो उसके प्रभाव में काम करती हैं। साहित्य में प्रत्येक महाग्रह, बहुत शीघ्र, अपने चारों ओर उपग्रहों का एक पूरा वृत्त तैयार कर लेता है और युग का प्रकाश इन सभी ग्रहों का सम्मिलित प्रकाश होता है। छाया-वाद-काल में हिन्दी में जो नीले प्रकाश का प्लावन उठा, उसका अत्यन्त प्रमुख भाग पंतजी की कविताओं से विकिरित हुआ था।

अपने समय के अनेक नवयुवकों के समान, मैं भी पन्तजी की कविता देखकर सिहाता था और मेरी भी इच्छा होती थी कि कोई ऐसी कविता लिखूं जो पल्लव की कविताओं में मिश्रित कर दी जाय तो कोई बिलगा न सके। जहाँ तक मेरा ख्याल है, ऐसी एक कविता लिखकर सन् १९३० के आस-पास मैंने पंतजी को भेजी भी थी। वह उन्हें मिली या नहीं, यह मुझे ज्ञात नहीं हो सका, क्योंकि पन्तजी का कोई उत्तर मुझे नहीं मिला था; किन्तु, वह कविता, "कवि" शीर्षक से, रेणुका में निकली और उसके प्रत्येक संस्करण में मौजूद रही है।

पीछे, जब मैं आत्मरूप के कुछ अधिक समीप पहुँचा, तब यह प्रयास मैंने छोड़ दिया और मेरा ध्यान तब एक ऐसी भाषा तैयार करने में लग गया, जो पंत और मैथिलीशरण में से, दोनों से दूर और दोनों के कुछ पास हो। किन्तु, मेरा बराबर यह विचार रहा है कि खड़ीबोली के परुष रूप को गला कर मोम बनाने में जितनी

सफलता पंतजी को मिली, उतनी और किसी को नहीं। यह पंतजी का ऐतिहासिक कार्य है, जिसकी महत्ता आगे की शताब्दियाँ भी स्वीकार करेंगी।

जब कविता की भाषा ब्रजभाषा थी, हिन्दी में थोड़ी बहुत कविता असंख्य लोग लिख लेते थे। किन्तु, खड़ीबोली में लिखनेवालों की संख्या अधिक नहीं थी। और छायावाद के उद्भव के पूर्व तक, प्रायः, इस स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन भी नहीं हुआ। परिवर्तन तब आया, जब माखनलाल, प्रसाद, पंत और निराला की कविताएँ छपने लगीं। लेकिन, इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनुकर्त्ता, सबसे अधिक, पंतजी ने ही उत्पन्न किये। छायावाद-युग में, और नहीं तो पच्चीस-तीस कवि तो ऐसे ज़रूर थे, जो पंतजी की भाषा और शैली के चारों ओर चक्कर काटते थे।

पन्त-काव्य से मेरा परिचय प्रगाढ़ से थोड़ा ही कम होगा। किन्तु, मनुष्य पन्त को मैं कितना जानता हूँ, मन से इसका कोई निश्चित उत्तर नहीं मिलता। मेरी श्रद्धा उनपर अशेष है और वे भी थोड़ा-बहुत मुझे पसन्द करते हैं, किन्तु, कभी ऐसा अवसर ही नहीं आया कि हम दोनों,बरस दो बरस अथवा मास दो मास,साथ रहकर एक दूसरे को समझ सकें। मेरा ख्याल है, असंख्य मित्रों और प्रशंसकों के साथ पन्तजी का ऐसा ही सम्बन्ध है। अपवाद मैं केवल नरेन्द्र और बच्चन को मानता हूँ, जिन्हें पंतजी से कुछ अधिक सामीप्य लाभ करने का सुयोग मिला है।

फिर भी, ऐसा नहीं है कि पन्तजी को मैं जानता ही नहीं होऊँ। यह भी भाग्य का व्यंग्य है कि जिस कवि पर आसक्त मैं १९२५ ई० के करीब हुआ था, उससे मेरी पहली मुलाकात सन् १९४८ ई० में हुई जब मैं इलाहाबाद भी, शायद, पहली ही बार गया था। मैं जब पंतजी से मिला, हम दोनों मेज़ के आर-पार अकेले थे। प्रणाम करके बैठते ही मेरी दृष्टि उनकी आकृति में खो गयी और,कई मिनट तक, हम में से कोई कुछ बोल नहीं सका। अन्त में, मौन-भंग करते हुए पंतजी ही बोले, "अब क्या देखते हैं ?" मुझे सहसा कोई जवाब नहीं सूझा, फिर भी, मुँह से निकल गया, "अभी भी बहुत कुछ है जो दर्शनीय है।"

परम्परा से सुनता आया हूँ कि भारतेन्दु, दर्शन मात्र से ही,विशिष्ट मनुष्य मान लिये जाते थे। मैंने जिन साहित्यिकों को देखा है, उनमें से पन्त, निराला और नवीन,ये तीन ही हैं जो,दर्शन मात्र से, प्रभावित करते हैं। नवीनजी जब रुग्ण नहीं हुए थे, तब चुप रहने पर भी, उनके व्यक्तित्व से आक्रामक किरणें फूटा करती

थीं। रुग्ण होने के पूर्व, निरालाजी के व्यक्तित्व का ठाट पैगम्बराना था और उनके लम्बे-लम्बे हाथ और लम्बी-लम्बी उँगलियाँ उनके दार्शनिक होने की सूचना देती थीं। किन्तु, पंतजी को देखते ही सहसा यह भान होता है, मानों, आप परियों के देश से उतरे हुए किसी देवर्षि के सामने खड़े हों। छोटा-हलका शरीर, चेहरे पर सौम्य शान्ति जो, सचमुच ही, देवताओं की शान्ति है और सिर पर घने, लहराते बाल जो सुन्दर से सुन्दर रमणी को और भी सुन्दर बना सकते हैं, पन्तजी के दर्शन से उत्पन्न होनेवाला प्रभाव नारी-दर्शन से उत्पन्न प्रभावों से मिलता-जुलता है। और यह श्रृंगार उन्होंने नारी-जाति के प्रति सम्मान दिखाने को ही धारण भी किया है।

घने लहरे रेशम के बाल
धरा है सिर पर मैंने देवि!
तुम्हारा यह स्वर्गिक श्रृंगार।

केवल बाल ही नहीं, पंतजी का कोट, पन्तजी का पतलून, यहाँ तक कि उनका कुरता भी ऐसे काट का होता है जिससे नारी-जाति के प्रति उनके असीम आदर की सूचना मिलती है, जिससे यह साफ जाहिर होता है कि यह पुरुष नारीत्व पर आसक्त नहीं, स्वयं नारी वन जाने को बेचैन है। कविता को कविता कहिये या काव्य, धर्म से, वह नारी ही होती है। यह नारीत्व पंतजी के मात्र काव्य में ही नहीं, उनके व्यक्तित्व और स्वभाव में भी समाविष्ट है। हाँ, नारियों की एक विशेषता ज़रूर है जिससे वे वंचित हैं अर्थात् वे अत्यन्त मितभाषी मनुष्य हैं। किन्तु, यह तो है ही कि वे जब भी बोलते हैं, उनकी वाणी अत्यन्त मधुर और भंगिमा नारी की भंगिमा होती है। महादेवीजी कहती हैं कि, उन दिनों, प्रयाग की कवि-गोष्ठियों में कवयित्रियाँ एक ओर और कवि दूसरी ओर बैठा करते थे। तब एक बार ऐसा हुआ कि पंतजी को कवियों की पंक्ति में बैठा देखकर महादेवीजी ने अपनी किसी सहेली से पूछ दिया, 'वह कौन लड़की है जो लड़कों में बैठ गयी है।'

आज भी यह लड़की लड़कों में ही बैठती है, क्योंकि यही विधि-विधान है। और, वयशील होने पर भी, वह ब्रह्मा नहीं, ब्रह्माणी का ही स्वरूप है। यह तुलना पंतजी पर बहुत सटीक बैठती है, क्योंकि सरस्वती की जवानी कविता और उसका बुढ़ापा दर्शन होता है।

प्रेमचन्दजी ने कहीं लिखा है कि नर जब नारीके गुण सीखता है, तब वह देवता बन जाता है, किन्तु, नारी जब नर के गुण सीखती है, तब वह राक्षसी हो जाती है। दो-एक स्थानों पर इस उक्ति का मैंने खण्डन किया है। किन्तु, पंतजी को देखते हुए यही कहना पड़ता है कि प्रेमचन्दजी ने खूब कहा।

गाँधीजी ने भी, धीरे-धीरे, नारीत्व की साधना पूरी कर ली थी। उनकी पोती ने अपनी किताब के लिए जो "बापू, मेरी माँ", यह नाम चुना, वह बहुत ही सार्थक चुनाव है। किन्तु, पन्तजी के लिए नारीत्व की साधना नयी नहीं, वह बचपन से ही उनके साथ है। और देवत्व की किरणें भी, आरम्भ से ही, उनके भीतर झलक मारती रही हैं। सरलता देवत्व है; अभंग बचपन मनुष्य नहीं, देवता का गुण है। पंतजी का व्यक्तित्व, मानव के शैशव का व्यक्तित्व है।

मुझे न अपना ज्ञान,
कभी रे, रहा न जग का ध्यान।
सिहरते मेरे स्वर के साथ,
विश्व-पुलकावलि से तरु-पात।
गान ही में रे, मेरे प्राण,
निखिल प्राणों में मेरे गान।

जीवन के किसी भी क्षेत्र की साधना, कहीं न कहीं, भीषण बलिदान लेती है। लेकिन, जो जितना अधिक देता है, वह उतना ही अधिक प्राप्त भी करता है।

जो काटौं तो डहडही, सींचौं तो कुम्हलाय,
या गुनवंती बेल को, कुछ गुन कहा न जाय।

मानवता के प्रणाम के अधिकारी वे होते हैं, जिन्होंने साधना की बड़ी से बड़ी कीमतें चुकाने में आनाकानी नहीं की हो। पंत ने अपनी गृहस्थी नहीं बसायी, माखनलाल और निराला की गृहस्थी भगवान ने छीन ली और महादेवी ने अपनी गृहस्थी का कृष्णार्पण कर दिया। और ये चारों कवि, इस युगवाले अध्याय में, महान् ज्योतिष्पिंडों की भाँति चमकते रहेंगे।

५ मार्च १९६० ई०}

मामा वरेरकर

सत्तर साल के मामा वरेरकर (पूरा नाम श्री भार्गव राम विट्ठल वरेरकर) मराठी के एक ऐसे साहित्यकार हैं जिन्होंने साहित्य के कई क्षेत्रों में अद्‌भुत शक्ति का परिचय दिया है और जिनकी प्रतिभा आज भी क्लांत नहीं, बल्कि, ताजी और नवीन है। सब मिलाकर उनके नाटकों की संख्या ४५, कादंबरियों (उपन्यासों) की २१, कहानी-संग्रहों की ५ और निबंध-संग्रहों की दो है। नाटकों में भाँति-भाँति की कविताएँ और गीत भी हैं। अतएव, यह कहा जा सकता है कि आनंद को अपने भीतर केंद्रित करनेवाले साहित्य के, प्रायः, सभी अंगों पर मामा साहब का अच्छा अधिकार है।

साहित्य का सामाजिक पक्ष कविता से अधिक उपन्यास में और उपन्यास से अधिक नाटक में निखार पाता है और मामा साहब, मुख्यतः, नाटककार हैं। अतएव, महाराष्ट्र के सामाजिक जीवन का मंथन उनके नाटकों में खुलकर अभिव्यक्त हुआ है। मराठी के अच्छे आलोचकों का मत है कि मामा साहब के सभी नाटकों को पढ़ लेने के बाद महाराष्ट्र की सामाजिक प्रगति का इतिहास,चित्र के समान,आँखों के आगे झलक उठता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि मामा साहब के सभी नाटक,मुख्यतः, अभिनय के लिए लिखे गये हैं, केवल एकांत में पढ़ने के लिए नहीं। असल में, इतने अधिक नाटकों की रचना ही उन्होंने रंगमंच की प्रेरणा से की और, प्रायः, प्रत्येक नाटक में उन्होंने समाज की आलोचना, उसके सुधार अथवा किसी सामाजिक परिवर्तन को अपना ध्येय रखा। वस्तुतः, नाटक और रंगमंच का उपयोग उन्होंने जीवन-यज्ञ में भाग लेने को किया, निरे मनोरंजन या आत्मसंतोष के लिए नहीं।

गिनती में तो उनकी उम्र सत्तर साल की हो चुकी है और शरीर पर इस लम्बी उम्र की छाप भी साफ नजर आती है, किन्तु, मन उनका अब भी जवान है और नवयुवकों की गोष्ठी में वे जिस सहजता से खप जाते हैं, उस सहजता से बूढ़ों की महफिल में वे, शायद ही, खप सकें। वे बच्चों के समान सरल, युवक कवि के समान भावुक और पुराने मित्र के समान निश्छल और विश्वसनीय हैं। जिसने ५० वर्षों तक साहित्य-रचना का काम किया है, जिसके सामने अनेक अध्याय खुले

ग्रौर बन्द हुए हैं तथा जिसने कई उदय ग्रौर कई ग्रस्त देखकर ग्रपने ग्रनुभव के भंडार को समृद्ध किया है, उस साहित्यकार की मुद्रा गंभीर दार्शनिक की मुद्रा होनी चाहिए। किन्तु, इसके वितरीत, मामा साहब की मुद्रा रसिक ग्रौर कल्पक की रस-स्निग्ध मुद्रा है ग्रौर उनके समीप पहुँचकर युवकों की भी कल्पना कुछ ग्रौर हरी हो उठती है।

विनोद उनके कभी सात्त्विक ग्रौर कभी काफी ग्रश्लील होते हैं। पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदीके समान वे भी ग्रपने ऊपर हँसकर ग्रौरोंको हँसाने में दक्ष हैं। एक दिन बातों-बातों में मैंने पूछा, 'मामा साहब, ग्राखिर ग्रापने पढ़ा-लिखा क्या-क्या है?' वे बोले, 'तुम निश्चिंत रहो, यूनिवर्सिटी का मुझपर कोई लांछन नहीं लगा है ग्रौर चूँकि मैंने कोई परीक्षा ही नहीं दी, इसलिए, पास ग्रौर फेल, दोनों से बरी रहा हूँ।'

ग्रपने बचपन का हाल सुनाते हुए उन्होंने बताया कि 'सन १८९९ ई० में मैं घर से भाग निकला ग्रौर शिवरात्रि के ग्रवसर पर नेपाल जा पहुँचा। वहाँ से संन्यासियों के झुंड में मिलकर ग्रल्मोड़े गया जहाँ स्वामी विवेकानन्द की संगति मुझे प्राप्त हुई। स्वामीजी के साथ ही मैं कलकत्ते गया ग्रौर उन्हीं के द्वारा मेरा परिचय श्री गिरीशचन्द्र घोष से हुग्रा, जिन्होंने मेरी ग्राँखें खोल दीं ग्रौर जिनकी कृपा से नाटक के क्षेत्र में मैं ग्रपना मार्ग प्रशस्त कर सका।'

स्वामी विवेकानन्द मामा वरेरकर को बहुत मानते थे। ग्रल्मोड़े में स्वामीजी स्वयं ग्रस्वस्थ थे, किन्तु, जब मामा साहब के पेट में दर्द होने लगा तब स्वामीजी ग्रपनी पीड़ा भूलकर मामा साहब के पेट की मालिश ग्रपने हाथों से करने लगे।

स्वामी विवेकानन्द नवीन भारत के जन्मदाताग्रों में से हैं। वे योगी ग्रौर दार्शनिक थे। सनातन धर्म की उन्होंने जो व्याख्या की, हिन्दुत्व को उससे फिर एक प्रकार का यौवन प्राप्त हो गया। ग्रतएव, मैंने सोचा, मामा साहब स्वामीजी के इस दार्शनिक रूप के प्रभाव में भी जरूर ग्राये होंगे। मगर, मैं चकित रह गया जब मामा ने कहा कि 'दर्शन ग्रौर योग का पचड़ा छोड़ो; मुझे तो उनका गाना ग्रौर तबला बजाना ही बेहद पसन्द था।' स्वामी विवेकानन्द की साधनाग्रों में से उनका गाना ग्रौर तबला बजाना ही मामा वरेरकर को याद रहा है। इस छोटे-से संकेत से भी इस रहस्य पर प्रकाश पड़ता है कि मामा साहब, बुढ़ापे में भी, इतने ताजे क्यों हैं ग्रौर क्यों इस उम्र में ग्राकर भी वे 'भूमि-कन्या सीता'-जैसे नाटक की रचना करने में सफल हो सके! ग्रसल में, भावना की शिरा पर उन्होंने दर्शन का दबाव

पड़ने नहीं दिया है। कलाकार को जो शक्ति जीवित रखती है वह, मुख्यतः, भावों की शक्ति है, ज्ञान की नहीं। जबतक चिंतन भावुकता की अधीनता में चलता है, तब तक सरस कृतियों का निर्माण होता रहता है; जब भावुकता को वह ठोकर मार देता है, तब बातें नीरस हो जाती हैं। किसी ने सच ही कहा है कि सरस्वती की जवानी कविता और उसका बुढ़ापा दर्शन है।

मामा साहब का जन्म अरब समुद्र के किनारे, कोंकण प्रदेश के रत्नगिरि जिले के मालबन गाँव में सन् १८८३ ई० की २७ अप्रैल को हुआ था। तेरह-चौदह साल की उम्र तक वे गाँव में ही रहे; फिर रत्नगिरि हाई स्कूल में, सब मिलाकर, दो वर्ष दस महीनों तक उन्होंने शिक्षा पायी और उसके बाद पढ़ना खत्म कर दिया यानी वे पास-फेल और यूनिवर्सिटी के लांछन से बिल्कुल बेदाग निकल गये।

उन दिनों महाराष्ट्र में कोई चालीस नाटक-कंपनियाँ थीं जो प्रदेश भर में घूमती रहती थीं। इन्हीं कंपनियों के नाटक देखकर आठ साल के बालक वरेरकर के मन में यह भाव जगा कि मैं भी नाटककार बनूँगा। मामा साहब कहते हैं कि 'मेरी प्रेरणा का रूप यह था कि कभी मैं भी नाटक लिखूँगा और मैं जो कुछ लिखूँगा उसी को नाटकवाले मंच पर बोलेंगे।'

मामा साहब कुछ दिन मेडिकल स्कूल में भी गये थे, किन्तु, वहाँ से 'निरा बच्चा और शरीर से कमजोर' कहकर निकाल दिये गये। किन्तु, इस दौर में उनकी जान-पहचान सिविल सर्जन डाक्टर कीर्त्तिकर से हुई जो अपने समय में महाराष्ट्र के प्रसिद्ध वक्ता, कवि और लेखक थे। कीर्त्तिकर ने ही पहलेपहल इब्सेन की किताब मामा वरेरकर के हाथ में दी और जब मामा साहब को इब्सेन के संवादों में स्वयं कोई रस नहीं मिला, तब कीर्त्तिकर ने ही उन्हें नाटकों के संवादों को, नाटकीय ढंग से, पढ़ने की कला भी सिखलायी। फिर क्या था ? इब्सेन मामा साहब का आदर्श बन गया और धीरे-धीरे वे कालिदास तथा शेक्सपियर के रोमांटिक नाटकों से अलग होने लगे।

मामा साहब कहते हैं कि, यद्यपि, नाटककार बनने की उमंग मुझ में सबसे पहले जगी थी, किन्तु, आरम्भ में मैं कविता, कहानी और निबंध ही लिख पाता था। नाटक लिखने की, मानों, मुझे कोई राह ही नहीं मिल पाती थी। मगर, नाटक लिखने के साथ-साथ मुझ में कंपनियों में घुसकर काम करने की इच्छा भी थी और नाटकवालों से अपना सम्बन्ध भी मैंने बढ़ा लिया था। अपने इस शौक पर

उन्हें आज भी नाज है और वे, बड़े ही फख्र के साथ, कहते हैं, 'मुझे तुम नाटककार मत समझो, असल में, मैं तो नाटकवाला हूँ।' यह उस नाटककार के अनुभव का निचोड़ है, जिसके नाटक परीक्षा पास कराने के लिए नहीं, समाज में तरंग उठाने के लिए लिखे गये थे। असल में, सफल नाटककार केवल लेखक ही नहीं, प्रोड्यूसर भी होता है। केवल नाटककार पुस्तकालयों की शोभा बढ़ायेगा; जो नाटकवाला होगा, समाज में आलोड़न पैदा करने का काम वही कर सकेगा।

मामा साहब की नवीनतम कृति 'भूमि-कन्या सीता' है जिसका हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है और जिसका अभिनय दिल्ली से लेकर बम्बई तक——दोनों भाषाओं में——एक समान सफल रहा है। मामा ने बताया कि 'पंद्रह वर्ष की आयु में मैंने भवभूति के 'उत्तर रामचरित' का अनुवाद मराठी में किया था, किन्तु, रंगमंच से संबद्ध रहने के कारण मुझे उस नाटक की कमजोरियाँ बराबर महसूस होती रहीं। वही वासना अब 'भूमि-कन्या सीता' के रूप में सफल होकर आयी है। उत्तर-रामचरित आनन्द-पर्यवसायी है। मैं वाल्मीकि और कालिदास के साथ हूँ। मेरी कल्पना की सीता राजपुत्री नहीं, भूमि-कन्या है और शंबूक उसे अपनी बहन कहता है, क्योंकि शंबूक और दलित लोग ही भूमि के वास्तविक पुत्र हैं। भूमि-पुत्र शंबूक और भूमि-कन्या-सीता, यह अच्छी जोड़ी है और दोनों, प्रत्यक्ष ही, भाई-बहन हैं। मेरी कल्पना का शंबूक सीता से कहता है कि 'जनक ने जब हल पकड़ा तब वे शूद्र हो गये और उनके शूद्र हो जाने पर तुम्हारा जन्म हुआ, अतएव, तुम शूद्रा हो और हो मेरी पूजनीया बहन।' स्वयं सीता वनवासी लोगों के प्रति प्रेम से ओतप्रोत थीं। उन्होंने रानी का पद कभी पसंद नहीं किया, वन पर उनकी अनुरक्ति सदैव बनी रही।'

बँगला के स्वनामधन्य नाटककार और अभिनेता, स्वर्गीय गिरीशचन्द्रजी घोष की याद मामा साहब, बड़ी ही कृतज्ञता से, करते हैं। उनका कहना है कि 'रंगमंच का मुझे तो जैसा-तैसा ही ज्ञान था, उसकी वृद्धि और विकास गिरीश बाबू की ही कृपा से हुआ। रंगमंच तो महाराष्ट्र में भी था, किन्तु, स्टेज की कला बंगाल में बहुत दूर तक विकसित हो चुकी थी। मराठी के नाटकों का मुख्य आधार तबतक साहित्यिक वैदग्ध्य ही था। मंच की योग्यता उनमें भी बंगला के प्रभाव से आयी और बंगला के रंगमंच का भी बहुत-कुछ परिष्कार गिरीश बाबू के द्वारा हुआ। वे बराबर कोई-न-कोई नया प्रयोग करते ही रहते थे। इसी क्रम में उहोंन्ने बंगला

में कोई ७०-८० नाटक लिख डाले। नाटक प्रोड्यूस करने की कला मैंने उन्हीं से सीखी। सन् १९०० ई० से लेकर गिरीश बाबू जब तक जीवित रहे, मैं उनकी सेवा में साल में एक बार अवश्य उपस्थित होता था।'

मराठी रंगमंच का आरंभिक इतिहास बताते हुए मामा साहब ने कहा कि 'जब मैं लड़का था, उन दिनों मराठी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर थे। उनसे पूर्व मराठी के रंगमंच पर कालिदास और शेक्सपियर का प्रभाव था। कोल्हटकर ने मोलियर का ढंग अपनाया और भद्दे प्रहसन को हटाकर शिष्ट व्यंग्य की प्रथा भी उन्होंने ही चलायी। उनका सफलतम नाटक 'मूक नायक' था जिसके लेखक, प्रोड्यूसर और मुख्य अभिनेता वे स्वयं थे। सब मिलाकर उन्होंने बारह नाटक लिखे और इन्हीं नाटकों को अभिनीत करते-करते मराठी का रंगमंच मध्यकालीनता को छोड़कर नवीन हो गया। मैं कोल्हटकर को ही अपना गुरु मानता हूँ।'

इब्सेन मामा साहब का आराध्य और आदर्श रहा है। संस्कृत नाटकों में एक अंक और एक दृश्य की प्रथा थी, किन्तु, जब शेक्सपियर के नाटकों का भारत में प्रचार हुआ, तब भारतीय नाटकों में भी बहुप्रवेशी पद्धति चल निकली। इब्सेन की ओर अभिरुचि जाने का एक कारण यह भी था कि उसके नाटकों में संस्कृत नाटकों की एक अंक और एक दृश्यवाली प्रथा थी। किन्तु, उन दिनों भारतवर्ष की नाटक-कंपनियाँ बहुप्रवेशी पद्धति की इतनी कायल हो रही थीं कि जब मामा वरेरकर ने अपना पहला नाटक (कुंजविहारी) एक कंपनी को खेलने के लिए दिया तब उस कंपनी ने यही आपत्ति की कि 'नाटक में दृश्य कम हैं, अतः, दर्शक उससे प्रसन्न नहीं होंगे'। निदान, मामा साहब को उस नाटक को बहुप्रवेशी रूप में ढालना पड़ा। तुरन्त-तुरन्त दृश्य बदले बिना कोई भी नाटक रोचक नहीं हो सकता, यह रूढ़ि विदेश और भारत में घर कर गयी थी। इस रूढ़ि को तोड़ने का पहला सफल प्रयत्न इब्सेन ने किया और इब्सेन की इस सफलता का मामा पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे दिन-दिन बहुप्रवेशी पद्धति से दूर हटते गये। हाँ, आरम्भ में कंपनियों को खुश करने के लिए उन्हें कई नाटकों में इस पद्धति का पालन अवश्य करना पड़ा था।

मामा साहब का पहला एकांकी 'नाटक तुरुंगा चा दारात' (जेल के दरवाजे में) सन् १९२३ ई० में खेला गया। इस नाटक में एक अंक और एक ही दृश्य था।

मामा साहब कहते हैं कि पहले ही खेल के बाद समाचार-पत्रों ने इस नाटक पर तीन आरोप किये। पहला यह कि नाटक बहुप्रवेशी है; दूसरा यह कि वह सिर्फ तीन घंटों में खत्म हो गया; और तीसरा यह कि उसमें अछूतोद्धार का समर्थन किया गया है। उन दिनों सारे मराठी अखबार तिलक-संप्रदाय के प्रभाव में थे और यह संप्रदाय वर्णाश्रमधर्म में कट्टरता से विश्वास करता था। समाज-सुधार के मामले में मामा साहब आगरकरजी के अनुगामी थे। किन्तु, आगरकर का सुधारवादी दृष्टिकोण इतना प्रखर था कि समाज उन्हें विद्रोही मानता था। मामा साहब कहते हैं, 'आगरकर को पूना भर में कष्ट भोगने पड़े। तभी से पूने से मुझे विरक्ति हो गयी।'

जीवन भर नाटकों से समाज का मनोरंजन और सुधार करते रहने के बाद मामा वरेरकर आज नाटकों की मृत्यु का दृश्य देख-देख हाथ मलकर रह जाते हैं। उनके भीतर का नाटककार आज भी जीवित और चैतन्य है, वर्ना भूमि-कन्या सीता-जैसे नाटक की रचना वे नहीं कर पाते। किन्तु, प्रोड्यूसर वरेरकर के हाथ बँध गये हैं। फिल्म ने थियेटर की जान ले ली। अब सारे बम्बई में एक नाटक-निकेतन भर शेष है। जनता नटक देखने को लालायित और बेहाल है; मगर, नाटक अब नहीं होते ; जो बनते हैं, वे कक्षाओं में जाकर फिर पुस्तकालयों में लौट आते हैं।

नाटक लोग देखना भी चाहते हैं और उसका अपना उपयोग भी है, क्योंकि नाटक जो काम करते हैं, फिल्में उन्हें पूरा नहीं कर सकतीं। फिर भी, नाटकों का बुरा हाल है और मंच के अप्रचलन का प्रभाव नाटक की टेकनिक पर भी पड़ रहा है। मामा साहब ने बड़ी ही गंभीरता से कहा, 'हिन्दी खेल तैयार नहीं करने से अब स्टेज नहीं बच सकता। नाटक सभी भाषाओं में चलें, मगर, स्टेज का व्यवसाय हिन्दी से ही बढ़ेगा।'

और सबसे दुःख की बात यह है कि हिन्दी को ही अपना स्टेज नहीं है।

१९५३ ई०

रुक्मिणी देवी और उनका कला-क्षेत्र

थियोसाफी और ब्रह्मसमाज के विषय में सामान्य धारणा यह है कि ये धर्म उन वर्गों के हैं जिनके पास न तो विद्या का अभाव है, न धन का। किन्तु, अपना देश तो अविद्या और निर्धनता का आगार ठहरा। इसलिए, थियोसाफी और ब्रह्मसमाज के केन्द्रों में जाने पर शिष्टता, स्वच्छता और सुकुमारता की चाहे जितनी भी अनुभूति हो, किन्तु, मन के किसी कोने में यह बात रह जाती है कि यहाँ भारतवर्ष नहीं है, और अगर है तो यह वह भारत है जो अपने कपड़े रोज धुलवा सकता है और जिसे अध्यात्म की रंगीनियों में विहार करने का पूरा अवकाश है।

रुक्मिणीजी थियोसाफिस्ट हैं और थियोसाफी के प्रधान केन्द्र अडयार (मद्रास) में रहती हैं। इसलिए, मैं यह अनुमान करके यत्किंचित उदासीन रहता था कि उनका कला-क्षेत्र भी धनिक-संप्रदाय का क्षेत्र होगा और भारत की आत्मा से उसका भी पूरा मेल नहीं होगा। किन्तु, पिछले ९ एप्रिल १९५३ ई० को जब मैं कला-क्षेत्र पहुँचा, मुझे यह जानकर सानंद विस्मय हुआ कि कला-क्षेत्र के सम्बन्ध में मेरा अनुमान गलत था।

कला-क्षेत्र का वातावरण रेशमी नहीं, सूती है। वहाँ भारत की निर्धन काया ही कला की साधना में लगी हुई है। कला-क्षेत्र में प्रवेश करते ही आप पर यह प्रभाव पड़ता है कि जो लोग यहाँ हैं, वे पलायनवादी नहीं हैं; वे सुख से जीवन बिताने को यहाँ एकत्र नहीं हुए हैं, प्रत्युत्, उनका ध्येय उच्च जीवन की खोज है। जब देश की परंपराएँ एक के बाद एक विलुप्त होती जा रही हैं, तब यहाँ कुछ लोग हैं जो नृत्य, गीत और कुछ थोड़े-से कुटीर-उद्योग के द्वारा भारत की प्राचीन संस्कृति के एक भाग को बचा रखने का प्रयास कर रहे हैं।

नीचे फैली हुई घुट्ठी भर बालू और धूल; मगर, इसी सैकत में हरियाली से लदे हुए छायावृक्षों की पंक्तियाँ और जहाँ-तहाँ मंडपाकर छोटे-छोटे कुटीर हैं जिनकी दीवारें फटे बाँसों की जाफरी से बनी हैं और जिनके छप्पर नारियल के पत्तों से छाये हुए हैं। अलबत्ते, कुटीरों के भीतर की फर्श सीमेंट से जरूर बनी है जिससे ये झोंपड़े भी स्वच्छ और सुखद दीखते हैं। यही है कला-क्षेत्र का बाहरी ढाँचा, वर्त्तमान भारत के समान ही निर्धन और मलिन। किन्तु, इस ढाँचे के

भीतर ऊँचे संकल्प की जो ज्योति जलती है वह इसकी निर्धनता को नगण्य और मलिनता को दूर कर देती है। इन्हीं झोंपड़ों में कहीं तो संगीत के आचार्य और कहीं नृत्य के आचार्य रहते हैं; इन्हीं झोंपड़ों में वे लोग हैं जो यूनिवर्सिटियों की चमकदार डिग्रियाँ हासिल करके भी धन कमाने को नहीं गये, बल्कि, कोई और ऊँचा काम करने को यहाँ चले आये। इन्हीं झोंपड़ों में पीटर और नान्सी रहते हैं जो अमेरिका के हैं, किन्तु, अब भारतीय लिबास में कला-क्षेत्र में वास कर रहे हैं। केवल लुंगी और चादर लपेटे हुए पीटर की लम्बी, पुष्ट और सुगौर मूर्त्ति ऐसी लगती है, मानों, कोई वैदिक आर्य युवक किसी संग्रहालय से निकल कर यहाँ आ गया हो और नान्सी भी साड़ी और झुल्ले में खूब ज़ेब देती है। इन्हीं झोंपड़ों में कहीं विविध वय के बच्चों की पाठशालाएँ चलती हैं, कहीं शिक्षक तैयार किये जाते हैं। इन्हीं झोंपड़ों में रेशमी साड़ी बनाने का काम चलता है और इन्हीं झोंपड़ों में युवतियाँ और युवक कठोर अध्यवसाय के साथ भरत-नाटचम् और कथाकली की नृत्य-साधना में लीन हैं। तड़क-भड़क का कहीं नाम नहीं; न तो कोलाहल है, न हाहाकारी प्रचार। तब भी, समुद्र के कूल पर बसे हुए इस नवीन तपोवन में भारत की आत्मा अपनी सनातनता की रक्षा पते ओड़कर कर रही है। कच्चे धागों का यह ताना-बाना आसानी से टूट सकता है, किन्तु, इन्हीं धागों से भारत का गौरव बुना जा रहा है। और तब भी, राष्ट्रीय सरकार का ध्यान इस बात की ओर नहीं जा रहा है कि गोधूलि की गोद में चलनेवाले कच्चे धागों के इस उद्योग की वह और कुछ नहीं तो थोड़ी हिफाजत ही कर दे।

सब से पहले रुक्मिणी देवी ने मेरा परिचय मैसूर के संगीत-मार्तंड, श्री के० वासुदेवाचार्य से करवाया। आचार्य केवल संगीत के ही नहीं, संस्कृत-साहित्य के भी आचार्य हैं। उनकी अवस्था अब कोई नब्बे साल की है। किसी प्रकार वे हिन्दी भी बोल लेते हैं। इस अवस्था में भी संगीत उनके कंठ से बलिष्ठता के साथ निकलता है और इस अवस्था में भी वे नये शिष्य तैयार करते जा रहे हैं। राष्ट्रपति ने जिन कलाकारों का सम्मान अभी हालमें किया है, उनमें श्री वासुदेवाचार्यका अन्यतम स्थान है। मैं उनके दर्शन से गदगद हो गया। औपचारिक बातों के सिलसिले में मुझे और कुछ नहीं सूझा तो मैंने यह पूछ दिया कि इतनी उम्र हो जाने पर भी आपका स्वर अभी तक कैसे कायम है। आचार्य हँसे नहीं।

उन्होंने, बड़ी ही सहजता के साथ, अपनी उँगली ऊपर को उठायी और वे बोले—'सब उसकी कृपा है।'

तब रुक्मिणीजी मुझे कला-क्षेत्र के प्रिंसिपल श्री करायकुडी साम्बशिव ऐय्यर की कुटी में ले गयीं। हम लोग जब पहुँचे, श्री ऐय्यर एक चौकी पर नंगे बदन लेटे हुए थे और हाथों से कुछ संकेत करते जाते थे। पास ही दूसरी चौकी पर एक युवती वीणा की साधना कर रही थी। श्री साम्बशिव इन दिनों दक्षिण भारत के सर्वश्रेष्ठ वीणावादक हैं। वह युवती उनकी पुत्री थी जिसे वे वीणा की शिक्षा दे रहे थे। रुक्मिणीजी ने कहा कि श्री ऐय्यर की पुत्री ने वीणा की अच्छी तैयारी की है। इस पर मैंने कन्या के लिए सद्भावना प्रकट की। श्री साम्बशिव ने तमिल में कहा—'हाँ, जहाँ तक देने की बात है, मैंने इसे यथेष्ठ शिक्षा दी है। किन्तु, उँगलियों में प्राण तो भगवान की प्रेरणा से आते हैं'।

बिहार में मैथिल पंडितों में जो श्रद्धेय व्यक्ति होते हैं, श्री साम्बशिव मुझे ठीक उन्हीं के समान लगे। सिर्फ धोती और तौलिया लपेटे हुए कला की साधना में रत ये ब्राह्मण भारत की आत्मा के सच्चे प्रहरी हैं?

मैंने रुक्मिणीजी से पूछा—आपने इतने बड़े-बड़े आचार्यों को कैसे जुटा लिया और कहाँ से इनका पालन करती हैं।

वे बोलीं—पैसा तो माँग-चाँग कर ही लाना होता है। और दूँगी भी उन्हें क्या? बस, कृपा करके यहाँ चल आये हैं। और संस्थाएँ अच्छा वेतन दे कर बुलाना चाहती हैं, तब भी यहाँ से जाने का नाम नहीं लेते। शायद, कला-क्षेत्र का वातावरण इन्हें संतुष्ट रखता है।

दूसरे दिन प्रातःकाल में कथाकली का शिक्षण देखने को गया। कला-क्षेत्र में इस नृत्य के आचार्य श्री चंदू पन्निकर हैं जिनकी अवस्था पैंसठ से कम नहीं होगी। वे आजकल एक नवयुवक को तैयार कर रहे हैं। इस नवयुवक ने कल्याण-सौगंधिकं नामक कथा का नृत्य किया। कथा यह है कि हनुमानजी अपने बुढ़ापे में हिमालय की घाटी में कहीं पड़े थे। इतने में उधर से भीम आ निकले। भीम की भीम मूर्त्ति देखकर मृग भाग चले, सिंह और व्याघ्र भय के मारे कंदराओं में छिपने लगे और गजराजों को कायाकंप हो गया। स्वयं हनुमानजी को भी साश्चर्य भय होने लगा कि यह दूसरा महावीर कौन है। इतनी-सी बात को उस नवयुवक ने आध घंटे में दिखलाया। स्वयं तो मैं इतना ही समझ सका कि यह

नृत्य अत्यंत कठिन और श्रमसाध्य है तथा इसमें योग और व्यायाम,दोनों का गहरा पुट है। किन्तु, पास बैठे हुए श्री चिंतामणि त्रिलोककर (प्रिंसिपल, अरुंडेल-ट्रेनिंग सेंटर) मुझे पद-पद पर समझाते जाते थे कि यह हस्तं (हाथ से बतायी गयी मुद्रा) सिंहवाचक है, यह गजवाचक, यह आश्चर्यवाचक और यह आनंदवाचक इत्यादि। त्रिलोककरजी ने बताया कि कथाकली नृत्य आर्यों से भी प्राचीन है। जब आर्य आये, यह नृत्य पूर्ण रूप से यहाँ विकसित था और आर्यों ने इसे स्वीकार कर लिया। भरत के नाट्य-सूत्र इस पर बाद को उतारे गये। जैसे भाषा में शब्द होते हैं, वैसे ही, कथाकली नृत्य में हस्तं यानी मुद्राएँ हैं। इन्हीं मुद्राओं के द्वारा लम्बी-लम्बी पौराणिक कथाएँ मूक भाषा में कही जाती हैं। परिपाटी कुछ-कुछ गीतगोविन्द-जैसी है। जैसे जयदेव ने प्रत्येक पद के पहले एक श्लोक में उसकी भूमिका दी है, वैसे ही,इस नृत्य में भी एक श्लोक भूमिका के रूप में पहले आता है और तब पद गाये जाते हैं। नाचनेवाला गान में भाग नहीं लेता। जो भाव गाया जाता है उसे वह मूक मुद्राओं में प्रदर्शित करता है। कथाकली के पद मलयालम् में होते हैं, किन्तु, इन पदों में संस्कृत और मलयालम् का ऐसा सघन मिश्रण होता है कि सहसा यह कहना कठिन हो जाता है कि पद संस्कृत में है या मलयालम् में। इस मिश्रित शैली को मणिप्रवाल शैली कहते हैं अर्थात् मणियों और प्रवालों को एक ही सूत्र में गुंफित करनेवाली शैली।

दूसरे मंडप में जाकर भरत-नाट्यम् की साधना भी देखी। यहाँ तीन लड़कियाँ अभ्यास कर रही थीं। कथाकली के समक्ष भरत-नाट्यम् कुछ कोमल और, शायद, आसान भी है। परिश्रम तो इसमें भी है, किन्तु, कथाकली जितना नहीं। इसमें भी मुद्राओं का ही महत्त्व है। लेकिन, मुझे ऐसा लगा, मानों, हाथ से बनायी जानेवाली मुद्राएँ कथाकली में ही बहुत अधिक हैं। भरत-नाट्यम् में नेत्रसंकेत, आकृति के हाव और अभिनय ही प्रधान हैं। त्रिलोककरजी ने बताया कि कथाकली पुल्लिंग और भरत-नाट्यम् स्त्रीलिंग है, क्योंकि कथाकली में नारी का अभिनय भी पुरुष ही करते हैं और भरत-नाट्यम् में पुरुष का अभिनय भी नारी ही। रुक्मिणीजी भरत-नाट्यम् की ही साधिका हैं। प्रत्युत्, उन्होंने इस नृत्य में इतनी नयी रचनाएँ की हैं कि आज का भरत-नाट्यम् उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है।

कला-क्षेत्र में भारत के सभी भागों के शिक्षार्थी हैं और ये सब मिलकर जिस संस्कृति का क्षीर पीते हैं वह संस्कृत भाषा से भलीभाँति पोषित और पवित्र है। गान

म संस्कृत, नृत्य में संस्कृत, प्रार्थना में संस्कृत, मलयालम् भाषा में संस्कृत, यहाँ तक कि मांटसेरी पाठशाला में दो से सात सालके बच्चों के जो अनेक समवेत गान सुने, वे भी,सब-के-सब, संस्कृत में अथवा संस्कृत से भरे हुए थे। कला-क्षेत्र में भारतीयता अपने पूरे उत्कर्ष पर है और उसके वातावरण में थोड़ी देर तक घूमने पर भी मन अचानक तपोवन की कल्पना में लग जाता है। कला-क्षेत्र में मेरा मन मेरे जीवन के पन्ने उलटने लगा; पार्लामेंट, यूनिवर्सिटी, सेक्रेटेरियेट और कचहरी, सर्वत्र दुर्गंध ही दुर्गंध। जी हाँ, यूनिवर्सिटी-जैसी पवित्र चीज भी बिहार में दुर्गंधपूर्ण है। तब क्या हो ? गृहस्थ का कायर मन कुछ सोच नहीं पाता और इकबाल की इस पंक्ति पर सारी उमंग चूर-चूर हो जाती है कि--'तलाश जिसकी है वह जिंदगी नहीं मिलती।'

शरीर से मैं रुक्मिणीजी के साथ घूम रहा था, लेकिन, मन मेरा किसी अतल गहराई में निमग्न था। अचानक मैं बोल उठा--'कला की तैयारी नहीं होती; कला की ओर मनुष्य सोच-समझ कर नहीं जाता। प्रत्येक कलाकार अपनी कला को, अपने जीवन के मिशन को, पहले से ही निर्धारित पाता है, मानों, यह उसकी किस्मत हो, मानों, यह उसका निर्दिष्ट भाग्यलेख हो, जिसे छोड़कर कहीं अन्यत्र भागने में वह असमर्थ है।'

रुक्मिणीजी बोलीं--'आप ठीक कहते हैं। यह पूर्वनिर्दिष्ट चीज होती है। इच्छा करने और योजना बनाने से आदमी कलाकार नहीं होता। वास्तव में, यह मनुष्य के अपने व्यक्तित्व का स्वाभाविक विकास है। मैं बचपन से ही कलामयी प्रवृत्ति की थी, किन्तु, मेरी आसक्ति संगीत और कविता पर थी। नृत्य मुझमें संगीत के माध्यम से आया। संगीत के जरिए मैं विश्वविख्यात नर्तकी अन्ना पैवलोवा के संपर्क में आयी और उन्होंने ही मुझे नृत्य सीखने की प्रेरणा दी। इस प्रकार, अपनी अभिव्यक्ति खोजते-खोजते मैं भारतीय नृत्य में चली आयी।'

बातों-बातों में रुक्मिणीजी आत्मचरित कहने की मुद्रा में आ गयीं और मैं उन्हें बढ़ावा देता गया। अतएव वे बोलती गयीं--'नृत्य को आध्यात्मिक बनाने की जरूरत नहीं होती। नृत्य तो आध्यात्मिक है ही। भरत-नाटयम् के कलाकारों ने नृत्यको कुछ स्थूल वासनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम बना दिया था, यद्यपि, अच्छाइयाँ उसमें तब भी थीं। मुझे तो कुछ करना नहीं पड़ा। मैंने सिर्फ गंदगी को हटाकर जो सोना था उसे उठा लिया।'

उन्होंने यह भी कहा—'नृत्य रचने में मुझे पहले नृत्य के द्रव्य की प्रेरणा होती है, पहले उसके भाव आते हैं जिससे यह अनुमान होता है कि यह नृत्य किस प्रकार का होगा। तब मैं उसकी अभिव्यक्ति के लिए मुद्राएँ ठीक करती हूँ और इस प्रकार नृत्य तैयार हो जाता है।'

पाश्चात्य देशों का अनुभव बताते हुए उन्होंने कहा—'अपनी पार्टी को लेकर मैं कभी यूरोप नहीं गयी। वहाँ तो मैंने सिर्फ वैयक्तिक प्रदर्शन ही दिये हैं और वह भी सिर्फ यूनिवर्सिटी और म्युजियम में उपयोग के लिए। कला का प्रेम पूर्वी और पश्चिमी, दोनों ही विश्वों में है। फर्क सिर्फ यह है कि भारत में कला का सच्चा प्रेम अशिक्षितों और ग्रामवासियों में है और पश्चिमी देशों में वह सारी जनता में व्याप्त है। पश्चिम के पढ़े-लिखे लोग यह अनुभव करते हैं कि अगर सौंदर्य का आनन्द लेने की शक्ति उनमें नहीं है तो उनका जीवन अधूरा और अपूर्ण है। किन्तु, अपने देश में सौंदर्यानुभूति की योग्यता को लोग आवश्यक गुण नहीं मानते। इन लोगों के सामने मैंने बहुत बार नृत्य किया और नृत्य उन्हें पसंद भी आया, लेकिन, मुझे लगता है, ये दर्शक अच्छे और बुरे का भेद नहीं कर पाते। अच्छे और बुरे का भेद तो, प्रायः, दक्षिण की ग्रामवासिनी जनता ही कर पाती है। वैसे, नृत्य देखने का शौक अपने देश में कम नहीं है।'

नृत्य और कविता की तुलना करते हुए वे बोलीं—'नृत्य भी तो क्रिया की कविता ही है। मेरे जानते तो सभी कलाएँ एक हैं क्योंकि उनका उद्गम एक है, उनका उत्स और उत्पत्तिस्थान एक है। भरत के नाट्यशास्त्र में कहा गया है, कविता वाणी के रूप में आत्मा की भाषा है। यह भी एक प्रकार का अभिनय ही है जिसे हम वाचिक कहेंगे। कविता के बिना गीत नहीं, गीत के बिना नृत्य नहीं। इसलिए, ये सब आपस में संबद्ध हैं। चित्रकला और मूर्त्तिकला को लीजिए। दोनों से नृत्य की समानता है। मूर्त्ति तो पुंजीभूत नृत्य ही है। एक समय था जब मूर्त्तिकार नर्तकों की नकल करते थे; आज ऐसा है कि नृत्यकार ही मूर्त्तियों से प्रेरणा लेते हैं।'

रुक्मिणीजी का विचार है कि 'भारतीय नृत्य पुरुष और स्त्री, दोनों को शोभा दे सकता है, प्रत्युत्, नृत्य में सफलता यहाँ दोनों वर्गों के लोगों को मिली है। फिर भी, नृत्य में नारी और नर, दोनों की कुछ अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं।

दुःख की बात यह है कि आजकल पुरुष नारियों का अनुकरण करने लगते हैं जिससे उनकी अपनी विशेषता लुप्त हो जाती है।'

कला आत्मोत्सर्ग है, कला आत्मदान है। जिसे अपनी रक्षा करनी हो, अपनी गृहस्थी की रक्षा करनी हो, कला, शायद, उसके लिए नहीं है। सोचते-सोचते महादेवीजी की याद आयी, पंतजी की याद आयी, निरालाजी की याद आयी। इनमें से किसी की गृहस्थी तो भगवान ने छीन ली, किसी ने अपनी गृहस्थी बसायी ही नहीं और किसी ने उजाड़ दी। इसीलिए, कला की देवी ने इन्हें औरों की अपेक्षा कुछ अधिक सामीप्य दिया।

कला की आखिरी चढ़ाई सबसे कठिन होती है। यहाँ कृपणता से मृत्यु और पूर्ण बलिदान से जीवन मिलता है। किन्तु, बलिदान किसके लिये? क्या देश की दुर्दशा में सुधार लाने के लिये? क्या इस सिद्धांत को प्रबल बनाने के लिये कि कला सर्वहारा के हाथ की तलवार है? अथवा धन और यश की मात्रा बढ़ाने के लिये? नहीं। बलिदान इसलिए कि मन को विश्वास हो जाय कि वह पूर्ण रूप से न्योछावर हो चुका है, कि वह निःशेष है, कि उसके पास बचाने की अब कोई चीज नहीं है।

संगीत वह जिस पर अपना आत्मदेव रीझ जाय; कविता वह जिसे पाकर कवि भीतर-ही-भीतर स्वयं निहाल हो जाय; और नृत्य वह कि नाचनेवाली समझे, उसे कोई देख नहीं रहा है, वह अपने हृदय के मंदिर में कपाट बन्द कर अपने आप के आगे नाच रही है।

और रुक्मिणीजी कह रही थीं—'नृत्य मेरी भक्ति है, नृत्य मेरी आराधना है, मैं जनता के बीच भी केवल अपने इष्ट के आगे नाचती हूँ। नृत्य एक चेतना है जिसके आने पर मांसपेशियाँ अदृश्य हो जाती हैं, शरीर उस भाव को व्यक्त करने में जल जाता है जो आत्मा के देवता का भाव है। नृत्य के समय नर्तकी का शरीर कविता की पंक्ति बन जाता है, वीणा की रागिनी बन जाता है, हृदय का उच्छ्वास बन जाता है। शरीर अक्षर-समूह है जिसके द्वारा नृत्य अपना छंद लिखता है।'

मई, १९५३ ई०

पोलैंड के राष्ट्रकवि अदम मित्सकेविच

अदम मित्सकेविच, जिनके स्वर्गारोहण के शताब्दी-समारोह में भाग लेकर मैं अभी-अभी स्वदेश लौटा हूँ, पोलैंड के राष्ट्रीय कवि थे। उनका जन्म सन् १७९८ ई० में और स्वर्गवास सन् १८५५ ई० में हुआ। कविताएँ लिखना उन्होंने १८२० ई० में आरम्भ किया और कोई चौदह वर्ष बाद उन्होंने कविता से संन्यास ले लिया। यह इसलिए नहीं कि उस समय तक उनकी प्रतिभा का स्रोत सूख गया था, प्रत्युत्, इसलिए कि चौदह वर्ष तक कल्पना के कुंज में घूमते-घूमते वे ऊब-से गये एवं उनके भीतर यह भावना जाग पड़ी कि जिन सपनों से अब तक खेलता रहा हूँ, अब उन्हें आकार दिया जाना चाहिए। प्रायः, देखा गया है कि बुढ़ापे के पास आते-आते कवि दार्शनिक या संन्यासी हो जाता है। मित्सकेविच के साथ यह परिवर्तन कुछ भिन्न रूप में आया। वे परिपक्व होते-होते कल्पना को छोड़ कर सत्य पर आ गये, काव्य-रचना का त्याग करके राष्ट्र-रचना में लीन हो गये। यह भी कर्मठ संन्यास का ही उदाहरण कहा जा सकता है। और जब उन्होंने कविता छोड़ी, वे दर्शन की ओर भी झुके एवं रहस्यवाद में उनकी अनुरक्ति बहुत बढ़ गयी।

किसी भी देश का सच्चा राष्ट्रीय कवि कौन हो सकता है? गेटे ने कहा है कि राष्ट्रकवि उसे कहना चाहिए जिसने अपनी जाति के इतिहास की सभी प्रमुख घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्धों का संधान पा लिया है, जिसे यह ज्ञात हो चुका है कि उसके जातीय इतिहास में कौन-कौन बड़ी घटनाएँ घटी हैं तथा उनके परिणाम क्या निकले हैं। राष्ट्रीय कवि की एक पहचान यह भी है कि उसे अपने देश-वासियों के भीतर निहित महत्ता का ज्ञान होता है, अपनी जाति की गहरी अनु-भूतियों से परिचय होता है तथा उसे इस बात का पता होता है कि उसकी जाति की कर्मठता का प्रेरणा-स्रोत क्या है। राष्ट्रकवि का एक लक्षण यह भी है कि उसकी जाति जिस उमंग से चालित होकर संपूर्ण इतिहास में काम करती आयी है, उसे वह कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त करे। राष्ट्रकवि केवल वह कवि हो सकता है जिसकी रचना में जाति अपनी आत्मा की प्रतिच्छाया देखती हो, जिसमें उस जाति के बाहु-बल का आख्यान हो, उसके विचारों की ज्योति और भावनाओं का

गुंजन विद्यमान हो। और, कोरे कवि जातीय कवि होने का दावा कर भी नहीं सकते। जातीय कवि तो वे ही लोग होते हैं, जिनमें कल्पना के साथ कर्मठता को भी प्रेरित करने की शक्ति है, जो केवल अतीत की आराधना नहीं करके अपने व्यक्तित्व के जोर से भविष्य को भी प्रभावित करते हैं। राष्ट्रकवि वह वैनतेय है जो बहुत ऊँचाई पर उड़ता है, जिसकी एक पाँख तो अतीत को समेटे रहती है, किन्तु, जो अपनी दूसरी पाँख से भविष्य की ओर संकेत करता है।

इन अर्थों में अदम मित्सकेविच पोलैंड के सच्चे राष्ट्रीय कवि थे। पोलैंड का इतिहास बहुत-कुछ अपने देश की राजपूत-जाति का इतिहास रहा है। राजपूतों ने वीरता कम नहीं दिखलायी, बलिदान कम नहीं किये, किन्तु, विधि-विधान से उनकी प्रत्येक वीरता विपत्ति में बदलती गयी, उनकी हरएक कुर्बानी नयी मुसीबतों का कारण बनती गयी। इसी प्रकार, पोलिश जाति ने भी बार-बार जिस वीरता का परिचय दिया, जो बलिदान चढ़ाये, उन सबका परिणाम विपत्तियों का विस्तार होता गया। संसार में पोलैंड एक ऐसा देश है, जिसकी स्वतंत्रता बार-बार खोयी गयी और बार-बार उसने उसे वापस लाने के प्रयास में पहले से भी बड़ी वीरता और बलिदान का परिचय दिया; जिसका अंग बार-बार राजनीति की मेज पर कई टुकड़ों में विभक्त किया गया और उसने बार-बार सभी खंडों को एक करके नया जन्म लेने की कोशिश की।

अदम मित्सकेविच पोलैंड की इस ऐतिहासिक विपत्ति और इस ऐतिहासिक उमंग से भरे हुए थे। कवि तो वे रोमांटिक थे, किन्तु, उनकी वेदना में, वास्तव में, उनके राष्ट्र की ही वेदना अभिव्यक्ति पाती रही और उनके उत्साह में भी उनकी जाति का ही उत्साह बोलता रहा। उनका जन्म पोलैंड की स्वाधीनता की समाधि पर हुआ था। वे एक ऐसे समय में पैदा हुए जब पोलैंड की एकता और स्वतंत्रता का एक रूप भस्मीभूत हो चुका था और इसकी संभावना नहीं रह गयी थी कि किसी अन्य रूप में पोलैंड की एकता और आजादी फिर से जीवित हो सके। पोलैंड विपत्तियों के अगम जाल में था। उसके ऊपर स्वेच्छाचारी राजाओं के पाँव जमे हुए थे और जनता दमन के भार के नीचे तड़फड़ा रही थी। यही राष्ट्रीय पीड़ा मित्सकेविच की कविता की प्रेरणा बन गयी और इसी से त्राण पाने को उन्होंने अपनी कविताओं के भीतर से उत्साह और विद्रोह का मंत्र फूंका। वेदना और वीरता, मित्सकेविच की कविता की ये मूल प्रेरणाएँ हैं।

असल में, जैसे पोलैंड वेदना और वीरता का देश रहा है, उसी प्रकार, मित्सकेविच भी वेदना और वीरता के कवि थे। "मैं समस्त पोलिश जाति की वेदना का अनुभव करता हूँ, ठीक वैसे ही, जैसे गर्भिणी नारी अपने अनुत्पन्न शिशु की पीड़ा का अनुभव करती है।" यह मित्सकेविच की प्रेरणा का एक पक्ष है। किन्तु, उसका दूसरा पक्ष भी है जो तत्कालीन दमन से पीड़ित पोलिश जनता में उमंग भरती है और उसके युवकों में विद्रोह के लिए उत्साह जगाती है।

"आह! यहाँ तो हृदयहीन, निरात्म और निर्जीव कंकालों का ढेर है। ओ नौजवानो! तुम अपने पंख मुझे दे दो कि मैं इस अभिशप्त और नंगे श्मशान से ऊपर उड़कर प्रकाश और सपनों के देश में पहुँच जाऊँ। चमत्कार परिश्रम से जन्म लेता है। साहस और श्रम, ये सपनों में सच्चे फूल खिला देते हैं और आशा की स्वर्ण-सुन्दरी साहसी एवं उद्योगी पुरुषों के हाथों अपना शृंगार सजाती है।"

जिन दिनों अदम मित्सकेविच लिख रहे थे, उन दिनों, यूरोप भारी उथल-पुथल से गुज़र रहा था। यह यूरोप में नेपोलियनी भूचालों का काल था और सारा महादेश वैचारिक, भावात्मक और राजनीतिक आवेगों से हिल रहा था। पोलिश भाषा में पहली साहित्यिक क्रान्ति यूरोप के रोमांटिक कवियों और विचारकों के प्रभाव से आयी। संसार को हिलानेवाली घटनाओं ने पोलैंड की भी परम्परा को हिला दिया और जर्मनी, फ्रांस तथा इंग्लैंड के समान वहाँ भी साहित्य की क्लासिक परम्परा समाप्त हो गयी एवं गेटे, शीलर, स्काट और बायरन पोलैंड में इस प्रकार लोकप्रिय हो उठे, मानों, वे पोलिश भाषा के ही कवि रहे हों। पोलिश भाषा में इस रोमांटिक आन्दोलन का आरम्भ मित्सकेविच ने किया और उन्हीं की रचनाओं में इसका संतुलित परिपाक भी मिलता है, मानों, कोई मुग्धा एक ही रात में बुद्धिमती प्रौढ़ा नारी बन गयी हो।

विचित्रता की बात यह रही कि जिन लोगों ने पोलिश साहित्य की इतनी सेवा की उनमें से कोई भी अपने देश में नहीं था। पोलैंड पराधीन देश था, अतएव, उसके सभी चिंतक और कवि निर्वासन में रहकर उस स्वप्न की साधना कर रहे थे जो प्रत्येक पोल के हृदय में बसा हुआ था। पोलैंड की स्वतन्त्रता और एकता के स्वप्न, पोलैंड में ही नहीं, बल्कि, अधिकतर अन्य देशों में पाले गये। अदम मित्सकेविच और उनके समकालीन कवि क्रासिंस्की एवं स्लोवास्की पोलैंड से बाहर रहते थे

अथवा कोई पोलैंड जाता भी था तो लुक-छिपकर और बहुत अल्प काल के लिए। यह काल पोलिश साहित्य का स्वर्णकाल था, किन्तु, अचरज की बात है कि इस काल की कोई भी श्रेष्ठ कृति पोलिश जमीन पर नहीं रची गयी। भाव तो पोलैंड के हैं, घटनाएँ भी पोलिश इतिहास से ली गयी हैं और लिखने के पीछे जो प्रेरणा है वह भी शुद्ध पोलिश देशभक्त के हृदय से निकली है, किन्तु, लिखनेवाला कवि देश से दूर निर्वासनों में है। शायद, यह भी एक कारण है कि पोलैंड के इन निर्वासित कवियों की पंक्तियों में जो वेधकता है वह अन्यत्र नहीं मिलती।

अदम मित्सकेविच भी सन् १८२४ ई० में अपने देश से जो निकले सो फिर कभी लौटकर वहाँ नहीं जा सके। देश से बाहर रहकर ही उन्होंने अपने देशवासियों में विद्रोह की भावना जगायी और देशभक्ति का प्रचार किया। देश से बाहर रहकर ही वे पोलैंड के लिए क्रान्ति की सेना तैयार करते रहे। उन्हें अपनी जाति की स्वातन्त्र्य-प्रियता में अदम्य विश्वास था और निर्वासन में वे बराबर पोलैंड में क्रान्ति के विस्फोट की प्रतीक्षा करते रहे। अन्त में, सन् १८३० ई० में वारसा में क्रान्ति प्रकट हुई और उसमें भाग लेने को मित्सकेविच तेज़ी से वारसा की ओर चल भी पड़े। किन्तु, पोज़न (जो पोलैंड का ही एक प्राचीन नगर है) पहुँचते ही उन्हें यह दुःसंवाद मिला कि वारसा की क्रान्ति पराजित हो गयी है। इस दुःसंवाद से उनका कलेजा बैठ गया और पोलैंड से वे तुरन्त निकल गये।

इन्हीं दिनों इटली में उनका प्रेम एक पोलिश युवती से हो गया, किन्तु, कन्या के पिता की कठोरता के कारण यह प्रेम भी असफल रहा। इन दो असफलताओं के भार से मित्सकेविच बेतरह दबे रहे और तब सन् १८३२ ई० में उन्होंने पैरिस जाकर 'पन्तदोश' की रचना आरम्भ की। यह महाकाव्य सन् १८३४ ई० में प्रकाशित हुआ और इसके प्रकाशित होते ही यूरोप में मित्सकेविच की ख्याति आकाश चूमने लगी। तब से 'पन्तदोश' स्लाव-भाषा के सर्वश्रेष्ठ काव्य के रूप में समादृत चला आ रहा है और स्लाव जाति उसे अपना सर्वश्रेष्ठ जातीय काव्य मानती है। 'पन्तदोश' इस बात का उदाहरण है कि ऊँची कविता तभी जन्म लेती है, जब कवि की वैयक्तिक अनुभूति विषय और भाव के साथ मिलकर एकाकार हो उठे। वारसा-क्रान्ति की विफलता और प्रेम में मिली हुई निराशा मित्सकेविच की अपनी पीड़ाएँ थीं। इन पीड़ाओं को इतिहास की गाथा के साथ गूँथ कर उन्होंने अपना दर्द पोलिश जाति के दिल में उतार दिया।

इसीलिए, यह काव्य अमर हो गया। कहते हैं, जैसे गेटे ने 'फ़ास्ट' इसलिए लिखा कि वे अपनी भावाकुलता से मुक्ति खोज रहे थे, उसी प्रकार, मित्सकेविच ने भी 'पन्तदोश' की रचना आत्म-मुक्ति के उद्देश्य से की थी।

'पन्तदोश' का अंग्रेजी अनुवाद केलिफोर्निया के प्रोफेसर न्वायस ने किया है। यों, यूरोपीय भाषाओं में उसके अनुवाद बहुत पहले से मौजूद हैं। 'पन्तदोश' में पोलिश राष्ट्र की आकुलता की स्पष्ट छाप है। किन्तु, मित्सकेविच केवल एक राष्ट्र के कवि नहीं थे। राष्ट्रीय रेखाओं के आर-पार, मनुष्य-मनुष्य में मौलिक एकता का जो तार है, मित्सकेविच उससे भलीभाँति परिचित थे। उन्होंने लिखा है, "जो व्यक्ति किसी एक राष्ट्र के हित की बात करता है वह स्वतन्त्रता का शत्रु है। समस्त यूरोप को छोड़कर किसी एक देश की उन्नति की बात सोचना, असल में, उस देश की भी उन्नति के खिलाफ सोचना है।...सब का सुख प्रत्येक व्यक्ति का जीवनोद्देश्य होना चाहिए।"

मित्सकेविच का देहान्त सन् १८५५ ई० के २६ नवम्बर को कुस्तुनतुनियाँ नगर में हुआ। उनका शव मन्तमोरेन्सी में दफ़नाया गया, किन्तु, सन् १८६० ई० में कृतज्ञ पोलिश जाति ने उसे ढोकर पोलैंड की प्राचीन राजनगरी क्रैकोव में दुबारा दफ़न किया। अब मित्सकेविच और स्लोवास्की, ये दोनों पोलिश कवि वहाँ सो रहे हैं जहाँ उनके चारों ओर पोलैंड के राजाओं और रानियों की समाधियाँ हैं।

दिसम्बर, १९५५ ई०

संस्कृति और सभ्यता

जब से भारत स्वाधीन हुआ, हमारे देश में दो प्रवृत्तियाँ बड़े ज़ोर से बढ़ने लगी हैं। एक प्रवृत्ति तो है कल-कारखानों के विकास की और दूसरी वह जिससे प्ररित होकर हम नृत्य, संगीत, नाटक और खेल-कूद में ज्यादा दिलचस्पी लेने लगे हैं। और ये दोनों प्रवृत्तियाँ एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। दिन भर डटकर काम करनवाला आदमी शाम को मनोरंजन खोजता है। दिन भर धूप में जलनेवाला प्राणी, शाम होते ही, चाँदनी में घूमना चाहता है, फूलों की गन्ध से मत्त होना चाहता है अथवा नदी के किनारे बैठकर सब कुछ भूल जाना चाहता है। मनवहलाव का यह कार्यक्रम संस्कृति के नाम से पुकारा जाता है और भारत के नगरों में संस्कृति का अर्थ नाच, गान और नाटक माना जा रहा है। अगर यह बात ठीक है तो कहना पड़ेगा कि भारत का मन अपनी ऊँचाई से नीचे आ रहा है।

नाच, गान, नाटक और खेल-कूद, संस्कृति के भीतर इन सब का स्थान है, किन्तु, संस्कृति केवल नाच, गान, नाटक और खेल-कूद तक ही सीमित नहीं है। वह इन सबसे आगे बहुत दूर तक जाती है। बहुत बार सभ्यता और संस्कृति लगभग एक-सी दिखायी देती हैं, किन्तु, वे एंक नहीं हैं। सभ्यता वह वस्तु है जो हमारे पास है। संस्कृति वह चीज़ है जो हम स्वयं हैं। कल-कारखाने, मोटर, महल, सड़क और हवाई जहाज तथा भोजन और पोशाक, ये संस्कृति नहीं, सभ्यता के उपकरण हैं। किन्तु, भोजन करने और पोशाक पहनने में हम जिस रुचि का परिचय देते हैं, वह हमारी संस्कृति है। इसी प्रकार, कल-कारखाने, मोटर और महल बनाने में हम जिस रुचि से काम लेते हैं उससे हमारी संस्कृति का परिचय मिलता है।

प्रत्येक सुसभ्य व्यक्ति सुसंस्कृत नहीं होता, क्योंकि संस्कृति का निवास मोटर, महल और पोशाक में नहीं, मनुष्य के हृदय में होता है। बहुत-से ऐसे लोग हैं जो अच्छी पोशाक में होने पर भी तबीयत से नंगे होते हैं और तबीयत से नंगा होना संस्कृति के खिलाफ बात है। और बहुत-से ऐसे लोग भी हैं जिनके पास मोटर और महल तो क्या, अच्छी पोशाकों का भी अभाव है। किन्तु, उनमें दया-माया, शील-सौजन्य एवं परोपकार की भावना की कमी नहीं है। अतएव, ऐसे

लोगों के नाम सुसंस्कृत व्यक्तियों की सबसे ऊपरवाली सूची में लिखे जाने चाहिए। सुना है, दुनिया में आज ऐसे भी समृद्ध देश हैं जहाँ समाज में सम्मान पाने के लिए कवियों को भी मोटर और बैंक बैलेंस की आवश्यकता होती है। अवश्य ही, ये वे देश है जहाँ सभ्यता संस्कृति के माथे पर चढ़ बैठी है। किन्तु, भारत की परम्परा ठीक इसके विपरीत है। भारत में राजाओं से बहुत अधिक आदर उन ऋषियों का होता था जिनके पास महल नहीं थे, रथ और घोड़े-हाथी भी नहीं थे। ये ऋषि सभ्यता के कोलाहल से दूर वनों में रहते थे, वल्कल पहनते थे, मिट्टी के बरतनों में भोजन पकाकर केले के पत्तों पर खाते थे और अपने हाथ से मोटा काम करने में उन्हें शर्म नहीं आती थी। आज की परिभाषा के अनुसार इन ऋषियों को सभ्यता के दायरे में गिनना जरा कठिन होगा। किन्तु, सुसंस्कृत तो वे इतने थे कि सारे इतिहास में उनका जोड़ नहीं मिलता।

सभ्यता के पीछे शहरूपन का स्पर्श है; वह नगरों से निकली हुई चीज़ मालूम होती है। किन्तु, संस्कृति ग्रामों के सहज जीवन की याद दिलाती है। सच पूछिये तो "कलचर" का सही अनुवाद संस्कार नहीं, "कृष्टि" होगा, जो कर्षण अथवा खेत जोतने का पर्याय है। मनुष्य की आत्मा भी खेत के समान है। उसके भीतर हल की जितनी ही रेखाएँ खींची जाती हैं, वह उतना ही मुलायम और उर्वर होता जाता है। सभ्यता बहिर्मुखी गुण है। वह शरीर को सजाती है। संस्कृति मनुष्य की आत्मा की चीज़ है। वह उसे भीतर से कोमल, दयालु और विनम्र बनाती है।

एक तरह से देखिये तो संस्कृति प्रकृति से भी भिन्न गुण है। क्रोध करना प्रकृति है; किन्तु, क्रोध को रोक रखना संस्कृति है। काम का उल्लंग आचार प्रकृति है; किन्तु, काम को बँधे घाट में बहाना संस्कृति है। प्रतिशोध की भावना प्रकृति है; किन्तु, जहर पचाकर उसे अमृत बना देना संस्कृति का काम है। प्रकृति हिंसा है जिसकी लपेट में पड़ी हुई दुनिया बेचैन हो रही है। संस्कृति अहिंसा है जो इस जलते हुए संसार को अग्नि से बाहर लाना चाहती है। सभ्यता बहुत बढ़ी तो एटम बम लेकर खड़ी हो गयी। संस्कृति मनुष्य का वह गुण है जिसके विकसित होने पर यह संहारक बम गुलाब का फूल बन जायगा।

जब तक विज्ञान नहीं आया था, सभ्यता और संस्कृति के बीच वह दूरी नहीं थी जो आज दिखायी देती है। सभ्यता शरीर का गुण है और विज्ञान की सारी

सेवाएँ शरीर के लिए हैं। अतएव, विज्ञान की उन्नति से सभ्यता का अति विकास आप से आप हो गया। किन्तु, आत्मा विज्ञान के क्षेत्र से बाहर पड़ती है, इसलिए, विज्ञान का कोई लाभ आत्मा के गुणों को प्राप्त न हो सका। परिणाम यह है कि विज्ञान अपनी शक्तियों से स्वयं भयभीत हो उठा है। आज परिस्थिति यह है कि जिन्होंने एटम और हाइड्रोजन बमों के आविष्कार में सोत्साह भाग लिया था, स्वयं वे वैज्ञानिक ही दुनिया को आगाह कर रहे हैं कि विज्ञान से जो शक्तियाँ निकली हैं, वे अत्यन्त घातक हैं और उनकी जाँच-पड़ताल का लोभ हमें छोड़ देना चाहिए। किन्तु, आगाही की यह आवाज़ केवल उन्हें सुनायी पड़ती है जो छोटे और कमज़ोर हैं। जो बड़े देश हैं उनके कान बहरे हो गये हैं। वहाँ सभ्यता संस्कृति की छाती पर चढ़ बैठी है और शरीर ने आत्मा को कुचल कर पाँवों के नीचे दबा रखा है।

सभ्यता के इस अत्याचार से संस्कृति का त्राण कैसे किया जाय, यही वह विषय है जिसे लेकर आज का विश्व-चिन्तन अपना मस्तक धुन रहा है। किन्तु, यह त्राण तब तक नहीं मिलेगा जब तक मनष्य प्राचीन विश्व के प्रति अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन नहीं लाता। ऐसा नहीं है कि मनुष्य का नवीन ज्ञान बिलकुल ठीक और उसका प्राचीन ज्ञान सब-का-सब गलत है। विज्ञान अधिक-से-अधिक पिछले दो सौ वर्षों में बढ़ा है,किन्तु, मनुष्य की सभ्यता कम से कम छह हजार वर्ष प्राचीन है। और इन छह हजार वर्षों में मनुष्य ने जो कुछ सोचा उसमें ऐसी बातें भी थीं जो अपनी उपयोगिता के साथ समाप्त हो गयीं और बहुत-सी ऐसी भी हैं जो मरना नहीं जानतीं और जिनका आज भी उपयोग है।

विशेषतः, भारतवर्ष की ओर संसार जिस आशा से देख रहा है उसका लक्ष्य नवीन नहीं, प्राचीन भारतवर्ष है। जैसे नवीन विश्व के नेता अमरीका और रूस हैं, वसे ही, प्राचीन विश्व का नेता भारतवर्ष था। किन्तु, नवीनता के साथ लड़ाई में यह प्राचीन विश्व सर्वत्र पराजित हो गया। केवल भारतवर्ष में वह आज भी युद्ध दे रहा है। भारत का यह अतीत महात्मा गांधी के भीतर से बोलता था जो वर्तमान विश्व के सबसे बड़े महापुरुष थे। भारत का यह अतीत विनोबा जी के भीतर से बोल रहा है जो आज हमारे देश में सबसे बड़े विचारक महामनुष्य हैं। और भारत का यह अतीत उन सभी वैज्ञानिकों के भीतर से बोल रहा है जो एटम तोड़ने के लिए प्रयोगशाला में जाने के पूर्व भगवान का ध्यान करने को पूजा-

गृह में बैठा करते हैं। ये बातें और कहीं नहीं, केवल भारत में सम्भव हैं और इन बातों पर हँसने के बजाय हमें गर्व करना चाहिए। अभिनव सभ्यता से पीड़ित संसार भारत की ओर जिस रहस्यमयी आशा से देख रहा है, उसका और कोई कारण नहीं है। उसका कारण सिर्फ यह है कि केवल भारत ही वह देश है जो नवीनता के साथ प्राचीनता को एकाकार करना चाहता है।

किन्तु, भारतवर्ष किस प्रकार अपने को इस योग्य बना सकता है कि वह संसार की इस आशा को पूर्ण कर सके? क्या विज्ञान के त्याग के द्वारा? विज्ञान का त्याग असम्भव है और वह हमारे अर्वाचीन इतिहास की शिक्षा के भी विपरीत होगा। अभिनव भारत का जन्म उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में हुआ था और तब से इस देश में विचारों के जो भी नेता हुए, उनके आपसी मतभेद चाहे जो भी रहे हों, किन्तु, इस बात मे वे सब-के-सब एक थे कि भारत न तो अपने प्राचीन ज्ञान का त्याग कर सकता है, न यूरोप के नवीन ज्ञान का। भारत की राजनीतिक राष्ट्रीयता उसकी सांस्कृतिक राष्ट्रीयता की देन है। राममोहन, केशवचन्द्र, रामकृष्ण, विवकानन्द, स्वामी दयानन्द, लोकमान्य तिलक, एनीबेसेण्ट, अरविन्द, गाँधी और रवीन्द्र, ये हमारे अर्वाचीन आकाश के जाज्वल्यमान् ज्योतिष्पिंड हुए हैं और ये सब-के-सब, किसी-न-किसी सीमा तक, धार्मिक थे। उनका ज्ञान पश्चिम से, किन्तु, उनकी सारी प्रेरणाएँ भारत के अतीत से आयी थीं। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि भारत अहिंसा के द्वारा स्वाधीन हुआ और अहिंसा से ही सामन्तशाही एवं जमींदारी प्रथाओं का उन्मूलन करके वह समाजवाद की ओर बढ़ रहा है।

जातियों की प्रगति के मार्ग बाहर से नहीं आते, वे उनके सुदूर और निकट के इतिहास से निकलते हैं। भारत की प्रगति के लिए भारत के इतिहास से जो मार्ग निकला है वह धर्म और विज्ञान के समन्वय का मार्ग है, वह राजनीति और संस्कृति के मिलन का मार्ग है, वह प्राचीन और नवीन के आलिंगन का मार्ग है। ज्ञान के स्तर पर रामकृष्ण, विवेकानन्द और अरविन्द ने जो दर्शन तैयार किया, कर्म के स्तर पर उसका वही रूप हो सकता था जो उसे गाँधीजी के हाथों प्राप्त हुआ है।

और वर्त्तमान विश्व यह चाहता भी नहीं कि भारत आँख मूँदकर पश्चिम के समद्ध देशों का अनुकरण करे। भारत गरीब देश है और गरीबी को दूर करने के लिए जितनी समृद्धि की आवश्यकता है उतनी समद्धि तो हमें भी चाहिए ही।

किन्तु, केवल आधिभौतिक समृद्धि काफी नहीं है, यह सत्य पश्चिम के प्रयोग से प्रत्यक्ष हो चुका है। भारत अपने इतिहास को सार्थक तभी कर सकता है जब उसमें यह सोचने की ताकत हो कि अभी भी ऐसा कोई उपाय है या नहीं जिससे धर्म और विज्ञान, प्राचीन और नवीन, गाँधी तथा मार्क्स अथवा विनोबा और जवाहरलाल के बीच समन्वय लाया जा सके।

और गाँधीजी विज्ञान के द्रोही थे, यह बात भी कही जाने के योग्य नहीं है। दुनिया में बहुत-से राजनीतिज्ञ हुए हैं जो धर्म के परिधान में छिप कर चलते थे; गाँधी जी शुद्ध धार्मिक पुरुष थे जिन्हें राजनीति के वेष में रहना पड़ा। वे देह के उत्सव में भूले हुए मनुष्य को आत्मा की याद दिलाने आये थे। विज्ञान के विरुद्ध उन्होंने जो कुछ भी कहा उसका उद्देश्य मनुष्य को यह बताना था कि शरीर ही सब कुछ नहीं है, कुछ थोड़ी सेवा आत्मा की भी होनी चाहिए; सुख-समृद्धि ही सब कुछ नहीं है, मनुष्य की असली शोभा उसकी विनयशीलता, अहिंसा और अस्तेय से है।

गाँधीजी भारत के धार्मिक इतिहास के प्रतीक थे और हमारे इतिहास ने अपने को जीवित और चैतन्य सिद्ध करने के लिए ही उन्हें उत्पन्न किया था। वे यदि नहीं आते तो भारत का इतिहास झूठा हो जाता। हिंसा से पीड़ित विश्व में अहिंसा की ज्योति छिटका कर वे हमारे इतिहास को आगामी सदियों के लिए जिला गये हैं। प्रत्येक भारतवासी का धर्म है कि वह गाँधी को समझे, क्योंकि गाँधी भारतवर्ष की सबसे नवीन टीका है।

गाँधी वह विनयपूर्ण भाषा है जिसके द्वारा प्राचीन विश्व ने नवीन विश्व को शान्ति का मार्ग बताया है। सभ्यता यानी बाहरी ठाट-बाट की उपासना बहुत हो चुकी, अब जरा उन गुणों की भी पूजा करो जिन्हें संस्कृति कहते हैं। संस्कृति सुख नहीं, सदाचार है। संस्कृति ताकत नहीं, विनम्रता है। संस्कृति संचय नहीं, त्याग है। संस्कृति विजय नहीं, मैत्री है। और सबसे बढ़कर संस्कृति की चरम साधना अहिंसा में प्रकट होती है। और अहिंसा केवल अनाघात को नहीं कहते हैं। सच्चा अहिंसक वह है जो विरोधी के मन को भी क्लेश नहीं देता, जो चिन्तन के धरातल पर भी गुस्से में नहीं आता। जो सुसंस्कृत होगा वह यह दुराग्रह नहीं करेगा कि मैं जो कुछ कहता हूँ, वह ठीक, और दूसरे लोग जो कुछ कहते हैं, वह ग़लत है। संस्कृति अनेकान्तवादिनी होती है। वह अपना पक्ष

भी समझती है और विरोधियों के मतों का भी आदर करती है। जो व्यक्ति सुसंस्कृत होता है वह अपने हृदय की आधी सहानुभूति अपने विरोधियों के लिए सुरक्षित रखता है। सहिष्णुता, सहअस्तित्व, संस्कृति और पंचशील, ये एक ही चीज़ के अनेक नाम हैं। लोग चाहते हैं कि दुनिया पर बमों से आग न बरसे। किन्तु, यह तो तभी सम्भव होगा जब लोग बहस के समय आँखों से आग बरसाना छोड़ दें।

बड़ौदा
नवम्बर, १९५८ ई०

नया भारत कैसा हो?

(एक पत्र का अंश)

आपका २३-२-५६ का कृपा-पत्र मुझे कल मिला। आपने बड़ी कृपा की कि उस पत्र की एक प्रति मुझे भी भेज दी जो आपने पूज्य पंडितजी को लिखा है। धन्यवाद।

मेरी पुस्तक का विषय भारत की सामासिक संस्कृति का जन्म और विकास है। मेरी धारणा यह है कि भारत में जब आर्य और आर्येतर जातियों का मिलन हुआ, तब वही मिश्रित जनता भारत की बुनियादी जनता हुई और उसका मिश्रित संस्कार ही भारत का बुनियादी संस्कार हुआ। इस बुनियादी संस्कृति में पहली क्रान्ति महावीर और बुद्ध ने की। फिर, जब मुसलमान आये तब उस संस्कृति में नयी सामासिकता उत्पन्न हुई और जब यूरोप भारत पहुँचा तब हमारी पूरी संस्कृति फिर से नवीन हो गयी। संक्षेप में कहने से बात अधूरी रह जाती है। किन्तु, पुस्तक का विषय यही है। प्रथम खंड में मेरा उद्देश्य यह दिखलाना रहा है कि भारतीय संस्कृति में आर्येतर जातियों, विशेषत:, द्राविड़ जाति का योगदान बहुत बड़ा है। फिर यह कि बुद्ध और महावीर के आन्दोलनों से हमारी संस्कृति में विस्तार आया और इस्लाम ने भी उसे प्रभावित किया है।

पुस्तक के चौथे खंड में हिन्दुत्व और इस्लाम के नव जागरण का विवेचन है और वहीं इस बात का संकेत है कि पिछले सौ वर्षों में हमारी संस्कृति बदल कर विश्व-संस्कृति की भूमिका बन गयी है।

पंडितजी ने "आत्मिक संकट" और "विभक्त व्यक्तित्व" की जो बात कही है, वह मेरी पुस्तक से शिक्षा के तौर पर निकाली जा सकती है। वस्तुत:, मुझे यह बात इतनी गहराई से दिखायी नहीं पड़ी थी। मगर, है वह बिलकुल सच और हमें इस प्रश्न पर विचार करके देश को इस दिशा में सचेत करना चाहिए। यह काम मनीषियों और बुद्धि-जीवियों के द्वारा ही किया जा सकता है यदि वे इधर ध्यान दें। पंडितजी की सूक्ति का, पिछले पखवारे, देश में अच्छा प्रचार हुआ है। आशा करनी चाहिए कि विचारक उस पर ध्यान देंगे। इस दृष्टि से आपकी प्रतिक्रिया मुझे बहुत अच्छी लगी है।

आप नवीन और पुरातन के बीच अथवा भारत और यूरोप या विज्ञान और आध्यात्मिकता के बीच सामंजस्य चाहते हैं। राममोहन राय से लेकर राधाकृष्णन् तक, प्रायः, सभी विचारकों ने नवीन भारत का यही ध्येय माना है। मेरी पुस्तक में भी इस प्रसंग की सामग्री प्रचुर परिमाण में मिलेगी। किन्तु, यह सामंजस्य कैसे प्राप्त होगा ? मैंने अपनी पुस्तक में कोई समाधान प्रस्तावित नहीं किया है। आगे शायद करूँ। किन्तु, पटने में अभी-अभी मेरा एक भाषण हुआ था, उसकी प्रति आपको भेज रहा हूँ। पृष्ठ १५ से आगे का अंश देख जाने की कृपा करें।

मुझे लगता है, भारत का नवीकरण, अधिकतर, यूरोप के अनुकरण से पूरा होगा। हमें यूरोप का तीन हिस्सा लेना है, यानी पूरा शरीर और आधा मन। पूरा शरीर इसलिए कि शारीरिक दृष्टि से यूरोप सर्वथा वन्दनीय है। मन इसलिए कि बुद्धिवाद तो यूरोप का हम लेंगे, किन्तु, मन का जो आधा ऊर्ध्वांश है उससे हम संबुद्धि या इनटुइशन का विकास करेंगे। यह बँटवारा हास्यास्पद-सा लगता है, किन्तु, स्थूल भाषा में इतने से भी अपनी आवश्यकता कुछ साफ हो जाती है। हमें सुस्पष्टता से सोच लेना है कि भारत के वे कौन-से तत्व हैं जिन्हें हम बचाना चाहते हैं। १९वीं सदी में भारत के कुछ प्राचीन सत्यों ने दुबारे जन्म लिया जो विवेकानन्द, अरविन्द, गाँधी और राधाकृष्णन् में चमकते आये हैं। इन्हें बचा रखना बहुत जरूरी है। पंडितजी में जो तेज है, वह इन्हीं सत्यों के क्रिया-पक्ष का है।

स्कूलों को तपोवन बनाने की कल्पना जितनी अच्छी हो, किन्तु, उसे रूप देना कठिन है। हाँ, यदि आप बिजली, यंत्र, मशीन आदि को तपोवन की कल्पना का बाधक नहीं मानते हों, तो मेरी समझ में कुछ आ सकता है। स्कूलों में हम जो भारतीय तैयार करें वे मन से भारतीय और तन से यूरोपीय हों (यानी उनमें चस्ती हो, दृढ़ता हो, स्वास्थ्य की उद्दामता हो, सफाई हो, तत्परता हो, अंधविश्वास नहीं हो, पोशाक लद्धड़ नहीं हो आदि) यह कल्पना मुझे अच्छी लगती है। आप लड़कों पर २००) रु० मासिक खर्च नहीं करना चाहते हैं। कितना खर्च मंजूर करेंगे ? पचहत्तर से कम में तो मुझ गरीब का बेटा भी नहीं पढ़ सकता।

दरिद्रता को पूजनीय बना रखने का विचार भी भारत के नवीकरण की बाधा है। आप असहमत हों तो इसपर फिर से विचार करें। मैं ज्ञान नहीं बघार कर अहिंसापूर्वक अपना विचार रखता हूँ। बेसिक शिक्षा को हम यह

कहकर ग्राह्य नहीं बना सकते कि यह त्यागियों की शिक्षा है। कोई भी बाप अपने बेटे को त्यागी बनाना नहीं चाहता। और भोगी बनना क्या पाप है? तेन त्यक्तेन भुंजीथाः का स्मरण कराते रहना काफी है। किन्तु, जोर तो हमें भोग पर ही देना है। भूखी जनता के आगे दर्शन परोसना खुद एक पाप है। प्रवृत्ति का ही उपदेश राममोहन ने दिया, केशवचन्द्र ने दिया, विवेकानन्द और तिलक ने भी दिया है। निवृत्ति तो यह देश छोड़ेगा नहीं, क्योंकि वह चीज़ इसके रक्त में है। अतएव, प्रवृत्ति का पाठ पढ़ाकर आप देश को आधिभौतिक उन्नति की ओर मोड़ते चलें, यही युग-धर्म है। आगे की बातें आगे देखी जायेंगी। यूरोप घृण्य नहीं, स्पृहणीय है। उसके जो थोड़े-से दोष हैं वे विवेकानन्द को भी दिखलायी पड़े थे और पण्डितजी को भी दिखायी दे रहे हैं। उनसे बचने का प्रयास ठीक है।

आपका बहुत समय व्यर्थ ले लिया। क्या फायदा है इन बातों से जो कागज पर घोड़ी की तरह दौड़कर रह जाती हैं? महत्त्व तो आज कर्म का है। हम योजनाएँ पूरी करते चलें, कल-कारखाने खोलकर उत्पादन बढ़ाते चलें तो कठिनाइयाँ खुद-ब-खुद कम होती जायेंगी। नहीं तो हम पर वही भय चढ़ बैठेगा जो उस बुढ़िया को हुआ था जो नाव भर रुई देखकर घबरा गयी थी।

क्रिया को छोड़ चिन्तन में फँसेगा,
उलट कर काल तुझ को ही ग्रसेगा।

नई दिल्ली
८-३-१९५६ ई०

लेखक की दृष्टि में नारी

प्रश्न : साधारणतः, यह समझा जाता है कि भारतवर्ष के लेखकों और कवियों ने नारी-जाति का समुचित सत्कार नहीं किया। क्या आप इस मत को मानते हैं ?

उत्तर : मानता भी हूँ और नहीं भी मानता हूँ। मानता हूँ उन लेखकों और कवियों के प्रसंग में जो प्राचीन अथवा मध्यकालीन युगों में हुए हैं। किन्तु, जहाँ तक नवयुग के लेखकों और कवियों का सम्बन्ध है, उनके प्रसंग में यह आक्षेप सर्वथा सत्य नहीं है।

प्रश्न : तो प्राचीन लेखकों और कवियों के बारे में तो यह आक्षेप सत्य ठहरता है ?

उत्तर : देखिये, नारी-जाति के प्रति सम्मानशील न होने का आक्षेप केवल लेखकों और कवियों के माथे मढ़कर आप छुट्टी नहीं पा सकते। लेखक और कवि समाज से भिन्न प्राणी नहीं होते। बल्कि, कहना यह चाहिए कि वे समाज के वाक्यंत्र होते हैं, उसकी जिह्वा और कंठ होते हैं। प्रत्येक लेखक सबसे पहले अपने युग का लेखक होता है। उसकी शंकाएँ वे ही होती हैं जो समाज के हृदय में चलती रहती हैं और उसके उत्तर भी, मुख्यतः, उन्हीं प्रश्नों के उत्तर होते हैं जो तत्कालीन समाज में चला करते हैं। इसलिए, अनेक मामलों में लेखक को दंडित करना उस समाज को दंड देने के समान है जिसने उसे उत्पन्न किया है।

प्रश्न : तो आपका कहना यह है कि प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय समाज ही नारियों के प्रति अनुदार था ?

उत्तर : बिलकुल ! और केवल भारतीय समाज ही क्यों ? प्रायः, सारा प्राचीन और मध्यकालीन संसार नारियों के प्रति अनुदार था। किन्तु, मैं यहाँ केवल अपने ही देश की बातें करूँगा। अपने देश का इतिहास हमें क्या बतलाता है ? वैदिक यगीन भारतवासी नारियों का आदर करते थे। वैदिक युग में प्रधानता मुनियों की नहीं, ऋषियों की थी। ऋषि वे होते थे जो विवाह करते थे, जो बाल-बच्चों को साथ लेकर धार्मिक जीवन व्यतीत करते थे। तब धीरे-धीरे मुनियों की प्रधानता होने लगी।

मुनि, यानी वे लोग जो गृहस्थाश्रम को छोड़कर वैरागी हो जाते थे। अपने देश के इतिहास से मैं यह शिक्षा निकालता हूँ कि जब-जब प्रवृत्ति का उत्थान होता है, समाज में गृहस्थ की मर्यादा में वृद्धि होती है और, तत्परिणामस्वरूप, नारियों की प्रतिष्ठा भी बढ़ जाती है। किन्तु, जब निवृत्तिवादी विचारधारा जोर पकड़ती है, तब समाज में गृहस्थ-धर्म की महत्ता क्षीण हो जाती है और उसके साथ-साथ नारियों का भी मान घटने लगता है। कम-से-कम, अपने देश में तो यही हुआ है। वैदिक युग प्रवृत्ति का युग था। निवृत्ति की बढ़ती उपनिषदों के समय आरम्भ हुई एवं जैन तथा बौद्ध मतों में वह अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची। मानव जीवन का चरम ध्येय मोक्ष की प्राप्ति है, यह विश्वास तो उपनिषदों के ही समय प्रचलित हो गया था। आगे चलकर जैन और बौद्ध मतों ने यह स्थापना भी रख दी कि मोक्ष का अधिकारी केवल मुनि, भिक्षु या वैरागी हो सकता है, वह व्यक्ति नहीं जो अभी गार्हस्थ्य में फँसा हुआ है। इस विश्वास के ज़ोर पकड़ते ही देश की नारियाँ भी धर्माचार्यों से भिक्षुणी होने का अधिकार माँगने लगीं और यह अधिकार उन्हें दिया भी गया। किन्तु, नारियों को भिक्षुणी होने की अनुज्ञा देकर एक बार तथागत ने विलाप भी किया था। "आनन्द ! मैंने जो धर्म चलाया था, वह पाँच सहस्र वर्ष तक चलने वाला था, किन्तु, अब वह केवल पाँच सौ वर्ष चलेगा क्योंकि नारियों को हमने भिक्षुणी होने का अधिकार दे दिया है।" और जैन-धर्म में जब दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई, तब उस शाखा के आचार्यों ने शास्त्र में यह संशोधन कर दिया कि नारियाँ मुक्ति की अधिकारिणी नहीं हैं। मुक्ति उन्हें तब मिलेगी जब वे पुरुष होकर जन्म लेंगी। बहुत बाद को चलकर निर्गुण सम्प्रदाय के साधुओं ने विवाह करके गृहस्थाश्रम में ही धर्म-साधना करने की प्रथा चलायी। इससे नारियों की पद-मर्यादा में कुछ वृद्धि हुई। किन्तु, प्राचीन संस्कार इन निर्गुणपंथी संतों में भी अभी शेष था। कबीर साहब का एक दोहा मिलता है—

> नारी तो हमहूँ करी, तब ना किया विचार,
> जब जानी तब परिहरी, नारी महा विकार।

और नारियों के प्रति कुछ ऐसे ही कठोर भाव गोसाईं तुलसीदास जी के भी थे।

प्रश्न : इस विषय में मध्यकालीन सन्त और शृंगारी कवियों के मत दो थे या एक ?

उत्तर : सन्त कवियों ने नारी की निन्दा इसलिए की कि वे संसार का त्याग कर चुके थे और नारी उनके किसी काम की चीज़ नहीं थी। और उनके बाद जो शृंगारी कवि आये, नारी का मान उनकी रचनाओं से भी नहीं बढ़ा। बल्कि, कहना चाहिए कि रीतिकालीन साहित्य नारीत्व की दुर्गति का साहित्य है। शृंगारकालीन कवि न तो प्रवृत्तिवादी थे, न निवृत्तिवादी। उन्हें केवल भोगवादी कहना चाहिए। और नारी को यदि केवल भोग की वस्तु मान लें तो इससे बढ़कर उसका अनादर और क्या हो सकता है ? नारी का सम्मान वे लोग नहीं कर सकते जो संसार को त्याज्य तथा गार्हस्थ्य को निन्द्य समझते हैं। इसी प्रकार, नारीत्व की प्रतिष्ठा उनके हाथों भी नहीं बढ़ सकती जो नारी को केवल भोग की वस्तु मानते हैं। 'निवृत्ति' और 'भोग', ये दोनों अतिवादी सिद्धांत हैं और दोनों, अन्ततः, अस्वस्थ भावों को जन्म देते हैं। सर्वत्र की भाँति यहाँ भी मध्यम मार्ग स्वास्थ्य का मार्ग है। नारी के गोचर रूप के भीतर एक और रूप है जिसका सत्कार किए बिना नारीत्व का सही सत्कार नहीं हो सकता। अर्थात् नारी भी मनुष्य है।

प्रश्न : तो क्या आधुनिक लेखकों और कवियों ने नारी के गोचर रूप से परे वाले रूप को पहचाना है ?

उत्तर : नारी के समग्र रूप को लखकों ने, शायद, अभी भी पूरा नहीं देखा है, किन्तु, उसकी ओर वे बड़ी ही क्षिप्रता से बढ़े हैं। हिन्दी में नारी के अगोचर व्यक्तित्व को छायावादी लेखकों और कवियों ने बहुत दूर तक पहचाना था। किन्तु, संस्कार धीरे-धीरे बदलते हैं। अतएव, गंगा के कूल पर पहुँच कर भी छायावादियों ने गंगा स्नान नहीं किया।

प्रश्न : मतलब ?

उत्तर : मतलब यह कि छायावादियों को यह अवश्य सूझा कि नारी केवल भोग्या नहीं है, किन्तु, वह असल में है क्या, इस रहस्य को वे नहीं समझ सके।

रवि बाबू ने एक पात्र से कहला दिया कि नारी केवल सुन्दरता है, केवल चाँदनी और फूल है, उसे भला कर्म-कीर्त्ति और शिक्षा-दीक्षा की क्या आवश्यकता हो सकती है? और प्रेमचन्द ने यह कहा कि नर यदि नारी के गुण सीख ले तो वह देवता हो जाता है। किन्तु, नारी यदि पुरुष का गुण सीख ले तो वह राक्षसी हो जाती है। इसी प्रकार, प्रसादजी ने कामायनी में जिन दो नारीपात्रों की सृष्टि की उनमें से श्रद्धा के प्रति तो उनकी सहानुभूति है, किन्तु, इड़ा को वे सहानुभूति से नहीं देखते क्योंकि इड़ा वह नारी है जिसने पुरुषों के गुण सीखे हैं। इन तीनों कलाकारों की दृष्टि रोमांटिक है। इसीलिए, वे पुरुष को धूप और नारी को चाँदनी कहते हैं। इसीलिए, वे नारी को पुरुष की प्रेरणादात्री समझते हैं। इसीलिए, वे नारीत्व से अधिक नारी की कोमलता, रमणीयता, आकर्षण और ताजगी की प्रशंसा करते हैं। और नारियों को देखिये कि वे इस प्रशंसा से खुश नजर आती हैं। मगर, कभी आपने सोचा है कि रोमांटिक चिन्तक नारीको चाँदनी बनाये रखना क्यों चाहते हैं?

प्रश्न : क्यों?

उत्तर : असल में, नारी का भोग्य रूप ही उन्हें पसन्द है और नारी के इस रूप को वे और उभारना चाहते हैं। इसीलिए, वे नहीं चाहते कि नारी धूप में निकले और पसीना बहाकर कर्म-कीर्त्ति अर्जित करे, क्योंकि पसीना चलने से प्रसाधन धुल जायगा और प्रेमिका की त्वचा कड़ी एवं मटमैली हो जायगी। यह काम का प्रच्छन्न, किन्तु, उग्र रूप है। जब तक पुरुष स्त्री को इस दृष्टि से देखने का अभ्यासी रहेगा, तब तक वह असली नारी को नहीं देख सकेगा और जब तक नारी अपनी शारीरिक कोमलता और रक्त तथा मांस से उठनेवाले सम्मोहन को प्रधानता देती रहेगी, तब तक वह भी स्वाधीन नहीं होगी।

प्रश्न : तो फिर नारी को देखने की सहज, स्वस्थ दृष्टि कौन-सी है?

उत्तर : वह जिससे नारी को गाँधीजी ने देखा था अथवा वह जिससे उसे मार्क्स देखा करते थे। मार्क्स और गाँधीजी के बीच भयानक भेद है। किन्तु, एक बात में दोनों समान हैं और वह यह कि न तो नारी पुरुष की प्रेरक शक्ति है, न नर और नारी एक दूसरे के पूरक हैं। नर और नारी,

दोनों स्वतन्त्र, दोनों समान और दोनों अपनी-अपनी राह पर हैं। नर और नारी को परस्पर उसी समानता से मिलने और मिलकर काम करने का अधिकार है जैसे दो स्वतन्त्र राष्ट्र परस्पर मिलते और मिलकर काम करते हैं।

मई, १९५७ ई०

विज्ञान की सीमाएँ

विज्ञान ने बहुत-सी बीमारियों को जीत लिया है, यह सही है, किन्तु, वैज्ञानिक सभ्यता के कारण बहुत-से रोगों में वृद्धि भी हुई है। हैजा, प्लेग, कालाजार और अब राजयक्ष्मा, ये भयानक बीमारियाँ मनुष्य के बस में आ गयी हैं, किन्तु रक्तचाप, मधुमेह, स्नायविक दुर्बलता और हार्ट फेलियोर से अब जितने लोग मरते हैं, उतने पहले नहीं मरते थे। और उन्माद की बीमारी तो, स्पष्ट ही, पहले से बहुत बढ़ गयी है। अमरीका के अस्पतालों में उन्माद के जितने रोगी रखे जाते हैं, उनसे अधिक रोगी अस्पतालों के बाहर दिखायी देते हैं। और यह तो है ही कि वयस्क अमरीकी जनता में से कोई सत्तर प्रतिशत लोग ऐसे हैं जिन्हें नींद की गोलियाँ खाये बिना ठीक से निद्रा नहीं आती। दर्द की दवा पायी, दर्द बेदवा पाया। जो दवा मिली पीड़ाओं की, उसमें भी कोई पीर नयी; मत पूछ कि तेरी महफिल में मालिक! मैंने क्या-क्या देखा।

ऐसा लगता है, मानों, वेदना मनुष्य जाति की चिरसंगिनी हो। विज्ञान ने हमारे दु.खों के शमन के लिए जो साधन एकत्र किये हैं, लगता है, उन साधनों में केवल इलाज ही नहीं, कुछ नये रोगों का भी पुट है। फर्क यह है कि पहले तो बीमारियाँ अन्धड़-तूफान की तरह आती थीं और आदमी जोर से बीमार हो जाता था, किन्तु, अब वह जोर से बीमार न होकर, थोड़ा-थोड़ा रोज बीमार रहता है। अच्छा क्या है? एक साथ धधक उठना या जीवन भर मन्द-मन्द धुँधुआते रहना? सोचने की बात है।

फिर भी, विज्ञान से हमें बहुत उम्मीद हो चली है क्योंकि अब ऐसे-ऐसे चमत्कार होने लगे हैं जो पहले सोचे भी नहीं जा सकते थे। मरते हुए आदमी की आँख जिन्दा आदमी को लगा देते हैं और उस आँख से वह देखने लगता है। मरते हुए आदमी की टाँग जिन्दा लँगड़े आदमी को लगा देते हैं और वह चलने लगता है। बन्दरों की ग्रन्थियाँ लगाकर बूढ़े जवान बनाये जा रहे हैं और एकाध बार यह सम्भावना भी दिखायी पड़ी है कि नारी नर में और नर नारी में बदला जा सकता है। मगर, कैंसर का इलाज क्या है? मामूली जुकाम की दवा कहाँ है? अपना तो यही अनुभव है कि सर्दी होने पर डाक्टरों के पास जाओ तो दो सप्ताह

लगते हैं और न जाओ, तब भी, सर्दी पन्द्रह दिनों में छूट जाती है। और सिर के बाल जो झरते हैं उन्हें रोकनेवाली दवा कहाँ है? और भी एक बात पूछूँ? जब तक प्रसव पीड़ामुक्त नहीं हो पाता, तब तक आधे मानव-समाज की दृष्टि में सायन्स की वक़त क्या है? चमत्कार सर्जरी ने दिखाया है। फिजिसियन तो, अक्सर, अँधेरे में ही टटोला करते हैं। विज्ञान तन को ज्यादा, मन और आत्मा को कम समझता है। इसलिए, सर्जरी ने तो तरक्की कर ली, लेकिन, औषधीय विज्ञान को आगे बढ़ने की राह नहीं मिल रही है।

इतिहास के गह्वर से जो गूँज आती है उससे मालूम होता है कि रोग, जरा और, एक हद तक, मरण पर विजय प्राचीन काल में भी प्राप्त की गयी थी, किन्तु, वह औषधियों से नहीं, युक्ताहार-विहार, योग और चित्त-शुद्धि के द्वारा। बूढ़े लोग ययाति का अनुकरण करें, यह मनुष्य के लिए कोई गौरव की बात नहीं है। गौरव तो व्यास, वशिष्ठ और विश्वामित्र से ही है।

मृत्यु को मैं अजेय मानता हूँ। मनुष्य दीर्घायु हो सकता है, अमर नहीं। और आयु-दैर्घ्य भी वही काम्य है जो कीर्त्ति से आता है, सन्तति, परम्परा और विचार-प्रवाह से उत्पन्न होता है। यह ठीक नहीं कि हर खिलनेवाला फूल सदा को खिला रह जाय। और चार दिनों की जिन्दगी के लिए जब इतनी हाय-हाय होती है, तब कभी भी खत्म न होनेवाली जिन्दगी के लिए कितनी हाय-हाय होगी? मौत की क़ैद लगा दी है, ग़नीमत समझो।

मनुष्य के स्थूल विघटन की प्रक्रिया को न अध्यात्म रोक सकता है, न विज्ञान। अरविन्द मानते थे कि स्थूल शरीर का विघटन रोका जा सकता है। किन्तु, उनका अपना तपःपूत शरीर इस सिद्धान्त का समर्थन नहीं कर सका। विज्ञान के भीतर ऐसा कोई विचार चलता है या नहीं, मैं नहीं नाजता। मान्यता मेरी यह है कि इस विघटन को विज्ञान भी न रोक सकेगा, क्योंकि यह बात ही स्रष्टा की योजना के विरुद्ध है।

नयी दिल्ली
२१ नवम्बर, १९५९ ई०

चार सांस्कृतिक क्रान्तियाँ

परिवर्तन की चाल जब धीमी रहती है, तब उसे सुधार कहते हैं। किन्तु, जब वह बहुत तेज हो जाती है, तब उसे क्रान्ति कहने का रिवाज़ है। भारतीय संस्कृति के क्षेत्र में ऐसी चार क्रान्तियाँ घटित हुई हैं और हमारी संस्कृति पर उन चारों क्रान्तियों का प्रभाव है।

पहली क्रान्ति तब हुई जब आर्य भारत आये अथवा यों कहें कि जब भारतवर्ष में आर्य और आर्येतर जातियों का मिलन हुआ। आर्य और आर्येतर जातियों के मिश्रण से भारत में जो जनता तैयार हुई, वही भारत की बुनियादी जनता हुई और उस जनता की संस्कृति ही इस देश की बुनियादी संस्कृति है।

उन्नीसवीं सदी में भारत के प्राचीन साहित्य का जो अध्ययन और मनन हुआ, उससे विद्वानों का मत यह हो गया था कि भारतीय संस्कृति में जो कुछ भी सुन्दर और श्रेष्ठ है वह आर्यों का दिया हुआ है; इसके विपरीत, जो कुछ भी साधारण और सामान्य है, वह आर्येतर जातियों का दान रहा होगा। किन्तु, इधर तीस-चालीस वर्षों के भीतर इस विषय में जो अध्ययन और चिन्तन किया गया है, उससे तस्वीर कुछ और ही बनती है। अब विद्वान् यह मानने लगे हैं कि भारत की प्राचीन बुनियादी संस्कृति भी सामासिक है और उसमें आर्यों और आर्येतर जातियों का, प्रायः, बराबर-बराबर का अंशदान है।

उदाहरण के लिए यदि शैव धर्म पर विचार किया जाय तो यजुर्वेद के शत-रुद्रीय अध्याय में रुद्र की कल्पना तो मिलती है, किन्तु, आर्यों के प्राचीन साहित्य से यह पता नहीं चलता कि, "बाण की तरह चमकते हुए आनेवाले" इस रुद्र से श्मशानवासी, गजाजिन पहनने और भाँग-धतूरा खानेवाले शिवजी का क्या सम्बन्ध है। वामन, कूर्म और शिव पुराणों में शिवजी की जो कथा आती है, उससे भी यही दिखायी देता है कि शिव की पूजा आर्य ऋषियों की पत्नियों में तो चलती थी, किन्तु, ऋषिगण उसे पसन्द नहीं करते थे। इसपर से यह अनुमान निकलना स्वाभाविक है कि ऋषियों का व्याह आर्येतर देवियों से हुआ था तथा ये देवियाँ जब अपने पतियों के घर आयीं, तब अपने पितृकुल के देवता शिव को भी अपने साथ लेती आयीं। ऋषियों ने पहले तो शिव-पूजा का विरोध किया, किन्तु,

बाद को वे स्वयं भी शिवजी को पूजने लगे। दक्ष प्रजापति के यज्ञ में शिव का भाग नहीं रखा गया था, इससे भी यही अनुमान निकलता है कि आर्यों के यहाँ शिव की पूजा की स्वीकृति ज़रा देर से हुई है। शिव की पूजा करो, किन्तु, उनका प्रसाद न खाओ, यह बात भी शिव के सम्बन्ध में आर्यों की झिझक का ही प्रमाण है। आज भी कार्त्तिकेय और गणेश के लिए जो उत्साह दक्षिण में दिखायी देता है, वह उत्तर में नहीं है। उत्तर भारत में कार्त्तिकेय की मूर्त्ति सिर्फ विजयादशमी के अवसर पर दुर्गा के साथ बनायी जाती है और गणेश, अक्सर, शुभ और लाभ के बीच दूकानों पर विराजा करते हैं, लेकिन, दक्षिण के मन्दिरों में दोनों भाइयों की बड़ी-बड़ी मूर्त्तियाँ देखने में आती हैं जिनकी बनावट से वीरता टपकी पड़ती है। अलवत्ते, उज्जैन में गणेश की एक अच्छी मूर्त्ति पधरायी गयी है, पर, वह अभी बिलकुल हाल की ही घटना है।

रेवरेण्ड किटेल की कन्नड़-इंगलिश डिक्शनरी में ऐसे कितने ही शब्दों की सूची दी गयी है जो द्रविड़ भाषा से निकल कर बहुत प्राचीन काल में ही संस्कृत में पहुँच गये और जो अब संस्कृत से किसी भी तरह बिलगाये नहीं जा सकते। ऐसे शब्दों में एक शब्द पूजा भी है। लोगों का अनुमान था कि यह शब्द पूज् धातु से निकला होगा, किन्तु, हिन्द-जर्मन-भाषा-परिवार में जब कहीं भी इस धातु का पता न चला, तब लोग नयी दिशाओं में सोचने लगे। अन्त में, अब यह अनुमान, प्रायः, सत्य माना जा रहा है कि, हो न हो, पूजा शब्द तमिल के पू और जै, इन दो धातुओं के योग से बना है। तमिल में पू का अर्थ पुष्प और जै का अर्थ कर्म होता है, अतएव, पूजा का अर्थ पुष्प-कर्म होना चाहिए जो बिलकुल ठीक है। आर्यों का प्रधान प्रेम हवन अथवा यज्ञ पर था। पूजा इस देश की जनता की चीज थी। इसीलिए, हवन तो पंडितों तक ही सीमित रह गया, किन्तु, पूजा घर-घर में फैल गयी।

भारत की यह बुनियादी संस्कृति शताब्दियों तक अक्षुण्ण चलती रही और बाहर से जो भी जातियाँ इस देश में आयीं वे सब-की-सब भारतीय जनता के समुद्र में डूबती चली गयीं और उनकी संस्कृतियाँ भी भारतीय संस्कृति में विलीन होती गयीं। उसके अपवाद केवल पारसी और मुसलमान हैं जो बहुत बाद को आये।

तब ईसा से, प्रायः, छह सौ वर्ष पूर्व भारत में पहले भगवान् महावीर और फिर भगवान बुद्ध का आविर्भाव हुआ। बुद्ध हिन्दू जन्मे थे और उनके सारे कार्य

भी बतलाते हैं कि वे अपने समय के सबसे बड़े हिन्दू सुधारक और सन्त थे। उन्होंने हिंसापूर्ण यज्ञों का तो विरोध किया ही, किन्तु, उनका सबसे बड़ा कार्य, शायद, यह था कि उन्होंने जन्म के आधार पर जातियों को श्रेष्ठ और अधम मानने से इनकार कर दिया। सभी मनुष्य जन्मना समान हैं और ऊँच-नीच का भेद केवल कर्म और आचरण की उच्चता और नीचता का भेद है, इस विचार का ज़ोरदार प्रचार सबसे पहले बुद्ध ने ही किया था। बुद्ध ने ही वर्णाश्रम धर्म के विरुद्ध विद्रोह करके इस देश में बृहत् मानवतावादी उस विचारधारा का आरम्भ किया जो बौद्ध एवं नाथ संतों तथा कबीर, नानक, दादूदयाल और स्वामी दयानन्द को छूती हुई महात्मा गाँधी तक पहुँच गयी है। यह बुद्ध की धारा है। किन्तु, इसके समानान्तर वह विचारधारा भी बह रही है जिसके विरुद्ध बुद्ध ने विद्रोह किया था, किन्तु, जो स्मृतियों और पुराणों से निकल कर शंकराचार्य, उदयनाचार्य, वाचस्पति मिश्र, विद्यापति और तुलसी को छूती हुई लोकमान्य तिलक और महामना मालवीयजी महराज तक आयी है। बुद्ध के इसी बृहत् मानवतावादी आन्दोलन से भारतीय संस्कृति में दूसरी क्रान्ति घटित हुई जिसका प्रभाव जीवन की असंख्य दिशाओं में पड़ा है। ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता है, इन दोनों धाराओं की पारस्परिक दूरी, क्रमशः, क्षीण होती जाती है और बुद्ध तथा शंकर परस्पर समीप होते जाते हैं।

तीसरी क्रान्ति तब हुई जब इस्लाम, विजेताओं के धर्म के रूप में, भारत आया। कहते हैं, मुसलमान जब भारत आये तब, आरम्भ में, सबसे अधिक हत्या उन्होंने बौद्ध साधुओं की ही की थी। किन्तु, यह भी सच है कि भारत में इस्लाम के फैलने योग्य जो वातावरण था, वह सब का सब बौद्धों का ही तैयार किया हुआ था। इस्लाम के आगमन के पूर्व ही भारत में ऐसे कई सम्प्रदाय तैयार हो चुके थे जो बहुत कुछ इस्लाम के अनुकूल थे। बौद्धों के दीर्घकालीन प्रचार ने, आखिर-कार, समाज में एक ऐसा समुदाय तैयार कर दिया था जो निराकार का पूजक, जाति-प्रथा का द्रोही और धर्मशास्त्रों का शत्रु था। सिद्ध, नाथपंथी और बाद के निर्गुनियाँ सन्त बौद्ध प्रचारकों के ही उत्तराधिकारी थे जो वर्णाश्रम-धर्म की खुले-आम खिल्ली उड़ाते थे। भारत में जो लोग झुंड के झुंड मुसलमान हुए, उनमें अधिक संख्या उन्हीं लोगों की थी जो इन निर्गुणवादियों के अनुयायी रहे थे अर्थात् जिन पर बुद्ध के उपदेशों का गहरा प्रभाव था।

हिन्दुत्व और इस्लाम के मिलन से, बाद को, ऐसी कितनी ही बातें निकलीं जिनसे भारतीय संस्कृति की सामासिकता में वृद्धि हुई है। खुसरो, जायसी, कबीर, नानक और दादूदयाल, ये उस सामासिकता के आरम्भिक व्याख्याता हुए हैं। उर्दू भाषा इसलिए उत्पन्न हुई कि फारसी के प्रेमी मुसलमान अपनी काव्यात्मक भावनाओं का गान भारत की भाषा में करना चाहते थे। इसी प्रकार, खान-पान, रहन-सहन और पोशाक त संगीतथा और चित्रकारी एवं स्थापत्य में ऐसी कितनी ही चीजें हैं जो हिन्दुत्व और इस्लाम के मिलन से उत्पन्न हुई हैं। काव्य में इस्लाम की सबसे बड़ी देन, शायद, सूफी-प्रवृत्ति या रहस्यवाद है। फारस में रहस्यवाद उपनिषदों और बौद्ध साधनाओं के साहचर्य से जनमा था। पीछे, जब वह भारत आया, तब वह प्राचीन होता हुआ भी बहुत कुछ नवीन था। भारत में निवृत्ति का प्रचार बहुत दिनों से होता आया था, किन्तु, कबीर से पहले यहाँ कोई भी ऐसा कवि नहीं जनमा जिसने मृत्यु को उस प्रकार काम्य बताया हो जैसे कबीर ने बताया है।

जिन मरने थे जग डरै, सो मेरो आनन्द,
कब मरिहूँ कब देखिहूँ पूरन परमानन्द।

जिन्दा रहना विरह है और मरने से विरह समाप्त हो जाता है, यह अनुभूति फारस के सूफी सन्तों की थी। वहीं से यह चीज़ हिन्दुस्तान आ गयी और अब तो यह भाव रवीन्द्रनाथ और महादेवी की कविताओं में भी देखा जा सकता है।

हिन्दुत्व और इस्लाम ने, एक-दूसरे को, कई प्रकार से प्रभावित किया और कभी-कभी यह प्रभाव गंभीर भी रहा है। किन्तु, आदमी यदि सतर्कता न बरते तो इन प्रभावों का वर्णन घोर अतिरंजन से युक्त हो जाता है। उदाहरण के लिए, यह कहना घोर असत्य है कि गुरु-परम्परा भारत में इस्लाम के साथ आयी अथवा भक्ति-आन्दोलन के पीछे इस्लाम का प्रभाव था। गुरु-परम्परा भारत में तब से मौजूद है जब महात्मा मुहम्मद का जन्म भी नहीं हुआ था। और भक्ति भी इस्लाम के जन्म से बहुत पहले की चीज़ है। इसके आरंभिक बीज उपनिषदों और गीता में मिलते हैं तथा इसका भावनात्मक विस्तार तमिल भाषा के आलवार और नायनार संतों की भावविह्वल कविताओं में प्राप्त है जिनमें से कुछ लोग छठीं सदी में भी जनमे थे।

परम्परा से यह देश मानता आया है कि भक्ति का जन्म दक्षिण में हुआ। पद्मपुराण और श्रीमद्भागवत, दोनों में, एक श्लोक समान रूप से मिलता है जिसमें भक्ति स्वयं अपने मुख से स्वीकार करती है—

उत्पन्ना द्राविड़े चाहं, कर्णाटे वृद्धिमागता,
स्थिता किंचिन्महाराष्ट्रे, गुर्जर जीर्णतां गता।

और हिन्दी में भी परम्परा से आता हुआ एक दोहा है जो भक्ति को दक्षिण में उत्पन्न बताता है—

भक्ती द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द,
परगट कियो कबीर ने, सात द्वीप, नौ खंड।

रामानुज आलवार संतों की मानस-संतान थे। भक्ति की भावनात्मक अनुभूति पहले आलवार संतों को ही हुई थी। रामानुज ने उन अनुभूतियों में से भक्ति का दार्शनिक सिद्धान्त निकाला। आलवार अपढ़ पिता और रामानुज पंडित पुत्र हैं। यदि आलवार नहीं हुए होते तो रामानुज का उद्भव असंभव-प्राय था।

प्रपत्ति के विषय में भी, अक्सर, कहा जाता है कि यह इस्लाम का प्रभाव था। मेरा ख्याल है, रामानुज को यह सिद्धान्त इस्लाम से नहीं मिला। इस्लाम तब तक भारत में फैला कहाँ था? यह तो आलवारों की 'शरणागति' को रामानुज के द्वारा दिया हुआ पारिभाषिक नाम है। विपद की बात यह है कि भक्ति-आन्दोलन का इतिहास अभी ठीक से लिखा ही नहीं गया है। और वह तब तक सही नहीं समझा जायगा जब तक उत्तर और दक्षिण की सभी भाषाओं में उपलब्ध सामग्रियों का उपयोग कई विद्वान् सम्मिलित होकर नहीं करते। आन्तर भारती का यह कार्य इतना महत्त्वपूर्ण है कि मद्रास और दिल्ली के विश्वविद्यालयों को इसे तुरन्त हाथ में ले लेना चाहिए। डाक्टर ताराचन्द और प्रोफेसर कबीर की पुस्तकों से, इस विषय में, जो भ्रम फैला है उसका समीचीन मार्जन इसी श्रम-साध्य कार्य से होगा।

डाक्टर ताराचंद ने यह भी लिखा है कि इस्लाम यदि भारतवर्ष में नहीं आता तो शंकराचार्य का आविर्भाव होता या नहीं, यह संदिग्ध है। किन्तु, इस्लाम क्या शांकर मत की तरह अद्वैत में विश्वास करता है? इस्लाम एक ईश्वर में

विश्वास अवश्य करता है, किन्तु, वह अद्वैतवादी नहीं है। इस्लाम ईश्वर को एक मानता है, किन्तु, वह यह भी समझता है कि ईश्वर ने सृष्टि बनायी, वह सातवें आसमान पर रहता है और उसके हृदय में भक्तों के लिए दया और दुष्टों के लिए घृणा का वास है। "संसार असत्य है अथवा जो कुछ हम देखते हैं वह कुछ नहीं में कुछ का आभास है", ये बातें इस्लाम में न पहले थीं, न अब हैं। इस्लाम में इसका कुछ थोड़ा आभास मात्र सूफियों के ज़रिये आया था और वह भी नवीं-दसवीं सदी के बाद। किन्तु, शंकर का जन्म आठवीं सदी में हुआ था और जिस विचार धारा का उन्होंने विकास किया वह भारत में बहुत दिनों से बहती आ रही थी। शंकर अपने पूर्वज नागार्जुन और वसुबन्धु के उत्तराधिकारी हैं। उनकी माया की कल्पना बौद्धों के शून्यवाद से निकली थी। इसीलिए, शंकर को लोग प्रच्छन्न बौद्ध कहते थे। उपनिषद्, बुद्ध, वसुबन्धु और नागार्जुन की विचारधारा से अपरिचित होने के कारण ही अर्ध पंडित शंकर को इस्लाम की देन मानते हैं।

इसी प्रकार, जो पंडित यह कहता है कि कर्णाटक का वीर-शैव अथवा लिंगायत संप्रदाय इस्लाम का अनुकरण है, वह शैव विचारधारा का सम्यक् ज्ञान नहीं रखता। कन्नड़ भाषा में अल्लम् का अर्थ लिंगायत भक्त होता है। इस शब्द को अल्लाह से निकला हुआ मानना उतना ही हास्यास्पद है जितना यह कहना कि कृष्ण नाम क्राइस्ट से निकला होगा। फिर भी, ये दोनों हास्यास्पद बातें ऐसे लोगों ने कही हैं जो विद्येतर कारणों से विद्वान कहला गये या कहला रहे हैं।

संस्कृति के क्षेत्र में चौथी क्रान्ति तब आरंभ हुई जब भारत में हिन्दुत्व और इस्लाम का संपर्क ईसाइयत और यूरोपीय बुद्धिवाद से हुआ। यह महाक्रान्ति अन्य सभी क्रान्तियों से अधिक व्यापक और गम्भीर है। शुरू तो यह उन्नीसवीं सदी के साथ ही हुई, किन्तु, आज भी इसकी धारा लहरें लेती हुई आगे जा रही है और हम सभी लोग उसके प्रवाह में हैं। इस क्रान्ति का सब से भयानक परिणाम यह है कि इसने धर्म और विज्ञान, नवीन और प्राचीन तथा व्यष्टि और समष्टि के बीच दुर्धर्ष संघर्ष उत्पन्न कर दिया है।

हिन्दुत्व के वृत्त में इस क्रान्ति के नेता राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, परमहंस रामकृष्ण, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक, रवीन्द्र, अरविन्द, महर्षि रमण, एनी बेसेंट और महात्मा गाँधी हुए हैं। और इस्लाम के भीतर इस क्रान्ति का मार्ग-दर्शन सर सैयद अहमद खाँ, मौलाना चिराग़

अली, सैयद मेहदी अली, सलाह अलदीन ख़ुदाबख़्श, मौलाना करामत अली, मौलाना हाली, मौलाना शिबली नौमानी और सर मोहम्मद इकबाल ने किया है। सन् सत्तावन के ग़दर में अंगरेजों का मुकाबिला हिन्दुओं और मुसलमानों ने मिलकर किया था। लेकिन, संस्कृति के क्षेत्र में यूरोप से जब चुनौती आयी तब उसका जवाब दोनों धर्मों की ओर से अलग-अलग दिया गया। खैरियत की बात यह है कि अलग-अलग होने पर भी हिन्दुत्व और इस्लाम के उत्तर, मूलतः, दो नहीं, एक हैं। वह एक उत्तर यह है कि यूरोप और अमरीका के नये ज्ञान में जो कुछ भी उपयोगी और श्रेष्ठ है उसे हम अवश्य ग्रहण करेंगे, लेकिन, साथ ही हमारे अपने धर्म और संस्कृति में जो कुछ भी ऊँचा और महान् है, हम उसे भी नहीं छोड़ सकते। एक हाथ में विज्ञान की मशाल और दूसरे में अध्यात्म का ज्योतिर्मय कमल, यह भारत का अगला स्वरूप दीखता है। विज्ञान के उदय के बाद अतीत और वर्तमान के बीच जो विश्वव्यापी संघर्ष आरंभ हुआ, उसमें अतीत, प्रायः, सभी देशों में पराजित हो गया है। केवल भारत ही वह देश है जहाँ विश्व का अतीत आज भी ज़ोरों से युद्ध कर रहा है। हमें कोई ऐसी राह निकालनी चाहिए जिससे इस लड़ाई में एक की जीत और दूसरे की हार न होने पाये। संस्कृति अहंकार नहीं, विनय है। संस्कृति जीत नहीं, समझौता और मैत्री का नाम है। अतीत और वर्त्तमान अगर परस्पर मित्र हो गये तो यह समझिये कि दुनिया को अपने दुःखों से बाहर निकलने की राह मिल गयी।

१२–२–१९६० }

पुनश्च

दिल्ली में संस्कृति शब्द का अर्थ नाच-गान और नाटक तक सीमित होता जा रहा है। नृत्य, संगीत और नाटक भी संस्कृति के अंग हैं, किन्तु, संस्कृति उन्हीं तक सीमित नहीं है। सभ्यता वह चीज है जो हमारे पास है, संस्कृति वह तत्व है जो हम स्वयं हैं। सभ्यता बहुत जल्दी भी बन सकती है, किन्तु, संस्कृति के बनने में बहुत ज्यादा वक्त लगता है। और सभ्यता शीघ्र ही नष्ट भी हो सकती है, किन्तु, संस्कृति के नष्ट होने में भी समय लगता है। मोटर, महल और हवाई जहाज, ये सभ्यता के उपकरण हैं। वे जल्दी लाये जा सकते हैं और जल्दी ही

वे छीने भी जा सकते हैं। किन्तु, दया, कोमलता, करुणा, अहिंसा, साहस और शील, ये आसानी से नष्ट नहीं होते। कहा तो यह जाता है कि संस्कार आदमी की मृत्यु से भी समाप्त नहीं होता, वह जन्म-जन्मान्तर तक हमारा पीछा करता है।

एक दूसरे धरातल पर संस्कृति विचार है, संस्कृति भावना है, संस्कृति मनुष्य का जीवनव्यापी दृष्टिकोण है। हम जैसे विचारों में विश्वास करते हैं, हमारे कर्म वैसे ही हो जाते हैं। निवृत्ति की माला जपते-जपते हम गुलाम हो गये और प्रवृत्ति की आराधना का आरम्भ करते ही हमारी गुलामी चली गयी। किन्तु, संस्कृति न तो केवल निवृत्ति है, न केवल प्रवृत्ति। संस्कृति दुराग्रह नहीं, सहनशीलता को कहते हैं। संस्कृति युद्ध नहीं, समझौते का नाम है। संसार में आज जो अशान्ति दिखायी पड़ती है उसका एकमात्र कारण यह नहीं है कि दुनिया पूँजीवाद और समाजवाद नामक दो शिविरों में बँट गयी है। इस संकट का मूल कारण, शायद, यह है कि निवृत्ति और प्रवृत्ति के संघर्ष में निवृत्ति बिलकुल पराजित हो गयी है। जैसे निवृत्ति की अति से दीनता और दौर्बल्य बढ़ते हैं, वैसे ही, प्रवृत्ति की अति राक्षसी वृत्ति को बढ़ावा देती है।

एक समय लोग यह मानकर निश्चेष्ट हो गये थे कि संसार माया और असत्य है। आज वे इस विश्वास के कारण कठोर हो रहे हैं कि परलोक की कल्पना ही झूठ है, इसलिए, पुलिस से बचकर जो भी करोगे वह पुण्य होगा। संसार की अशान्ति का कारण यह है कि व्यक्ति और राष्ट्र, दोनों ही आज नम्बर एक बनने की कोशिश में बेतहाशा दौड़ रहे हैं। लोग यह भूल गये हैं कि प्रजातंत्र की असली पताका का नाम कफन है जिसपर लिखा रहता है कि सभी व्यक्ति समान हैं। मेरा ख्याल है, प्रवृत्ति की गाढ़ी स्याही में जब तक निवृत्ति का पानी मिलाया नहीं जायगा तब तक शान्ति की कविता नहीं लिखी जा सकती।

संस्कृति का स्वभाव है कि वह आदान-प्रदान से बढ़ती है। जिस जलाशय के, नया जल लानेवाले, द्वार खुले हुए हैं वह हमेशा ताजा और नवीन रहेगा ; जिसके पानी लानेवाले दरवाज़े बन्द हो गये, वह जलाशय सड़कर सूख जायगा। भारत की बुनियादी संस्कृति बन्द जलाशय की संस्कृति नहीं थी। एक तो उसका जन्म ही अनेक संस्कृतियों के योग से हुआ था ; दूसरे, जब तक वह अन्य संस्कृ-तियों के जल को स्वीकार करती रही, उसका उत्तरोत्तर विकास होता गया।

अपनी समृद्धि के दिनों में भारतीय संस्कृति बहिष्कार की नीति नहीं बरतती थी। उस समय भारत ने संसार को अनन्त ज्ञान दिया, यह बात हमें याद है, किन्तु, हम यह भूल गये कि उन दिनों बाहर की चीजें हम लेते भी थे। संस्कृत का केन्द्र शब्द एक समय ग्रीक शब्द केन्टर से लिया गया था। ज्योतिष-ग्रन्थों में एक ग्रन्थ रोमक-सिद्धान्त भी है जो रोम की याद दिलाता है। एक दूसरे ग्रन्थ पौलिश सिद्धान्त के बारे में भी अनुमान है कि वह अलेक्जेंड्रिया के विद्वान पोलस के सिद्धान्तों के अनुसार लिखा गया था। कहते हैं, होरा-चक्र की पद्धति भी यहाँ यूनान से आयी थी। और ताजक-शास्त्र तो, स्पष्ट ही, अरब से आया हुआ लगता है। इस ग्रन्थ के अनेक श्लोकों में अरबी शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग हुआ है, ऐसा पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है।

इन बातों से शिक्षा यह निकलती है कि गुरु का पद उसी को शोभा देता है जिसमें शिष्य बनने की भी शक्ति है। जो शिष्य बनने से इनकार करने लगता है, उसका गुरुपद आप-से-आप विनष्ट हो जाता है।

२५ फरवरी, १९६० ई० }

अन्तर्राष्ट्रीयता, हमारे प्रेम का विकास

आदमी अपने परिवार से प्रेम करता है। वह अपने टोले, मुहल्ले और गाँव को भी प्यार करता है। फिर वह अपने प्रदेश और देश से भी प्रेम करने लगता है। राष्ट्रीयता और देश-प्रेम, ये आपस में मिलते-जुलते शब्द हैं।

प्रेम का दायरा छोटा हो तो मनुष्य छोटा होता है। प्रेम और सहानुभूति का वृत्त बड़ा हो तो उससे आदमी के बड़प्पन की सूचना मिलती है। अच्छे आदमी की पहचान यह है कि वह पूरे गाँव के फ़ायदे के लिए अपने परिवार, टोले और मुहल्ले के फ़ायदे को छोड़ दे। इसी भाँति, यदि देश और प्रान्त के हितों में संघर्ष हो तो सच्चा देशभक्त अपने प्रान्त नहीं, सारे देश का पक्ष लेगा।

जो लोग सारे देश की भलाई के लिए प्रान्तों और जातियों के मोह को छोड़ देते हैं, वे, सचमुच, महान् हैं। किन्तु, बड़प्पन की सीढ़ी यहीं खत्म नहीं होती। इससे भी आगे एक और सोपान है जिसका नाम अन्तर्राष्ट्रीयता अथवा विश्वबन्धुत्व है। वह व्यक्ति धन्य है जो प्रान्तीयता से ऊपर उठ कर सारे देश का हो गया है, किन्तु, उससे भी अधिक धन्य वह है जो देश की सीमा से बाहर निकल कर सारे संसार से एकाकार है।

राष्ट्रीयता भारत के लिए, फिर भी, कुछ हाल की चीज है,किन्तु, अन्तर्राष्ट्रीयता के भाव तो अपने देश में हमेशा से विद्यमान थे। भारत में श्रेष्ठ मनुष्य का लक्षण ही यह माना जाता था कि वह संपूर्ण पृथ्वी को अपना कुटुम्ब समझे, मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद-भाव नहीं रखे और देशों के भौगोलिक भेदों को भूल जाय।

बदरीधाम से रामेश्वरम् तक और जगन्नाथपुरी से द्वारका तक सारा भारत एक है, इस भाव को सुदृढ़ बनाने के लिए भारत के चारों धामों की स्थापना जगद्गुरु शंकराचार्य ने की थी। किन्तु, उनकी दृष्टि भारत तक ही सीमित नहीं रही। अपने देवीस्तोत्र के अन्तिम श्लोक में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि मेरी माँ पार्वती और पिता महेश्वर शिव हैं; जितने भी शिव-भक्त हैं वे मेरे बन्धु हैं और तीनों लोक मेरे लिए स्वदेश है।

माता च पार्वती देवी, पिता देवो महेश्वरः,
बान्धवाः शिवभक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम् ।

और सन्त तुकाराम ने भी कहा है,

हम विष्णुदास,
हमारा भुवनत्रय में वास ।

सभ्यता ज्यों-ज्यों बढ़ी है, मनुष्य के लिए मनुष्य के प्रेम का दायरा भी त्यों-त्यों बढ़ता गया है । बहुत-से जंगली जानवर ऐसे होते हैं कि अपने झुंड से बाहर के सजातीय पशु को भी पास फटकने नहीं देते । एक समय मनुष्य भी अपने कुनबे से बाहर के मनुष्य को अपना शत्रु समझता था । आज भी जंगली जातियों के मनुष्य बाहर के लोगों के साथ ऐसा बर्ताव करते हैं । लेकिन, सभ्य समाज के लोग अब काफ़ी उदार हो गये हैं । नतीजा यह है कि वे अपने सभी देशवासियों के साथ एक तरह के भाईचारे का संबन्ध महसूस करते हैं । यह बहुत बड़ी प्रगति है । किन्तु, प्रेम की आगे की मंजिल अब भी कुछ दूर है । अपने देश में रहनेवाले लोगों के साथ आत्मीयता का बोध हो, यह बहुत अच्छी बात है । किन्तु, यही आत्मीयता हमें उन लोगों के साथ भी बरतनी चाहिए जो हमारे देश में नहीं बसते, हमारी भाषा नहीं बोलते, न हमारे धर्म में दीक्षित हैं ।

सारी पृथ्वी एक है और उस पर बसने वाले काले-गोरे, सभी मनुष्य एक ही पिता की संतान हैं । फिर भी, भेद-भिन्नता इसलिए बढ़ी कि पृथ्वी का विभाजन कुछ तो समुद्रों, पर्वतों और नदियों ने कर डाला, मगर, ज्यादा क़सूर खुद आदमी का है जिसने धरती पर नकली रेखाएँ खींच कर भूमण्डल को अनेक देशों में बाँट रखा है । लेकिन, परिवहन के वैज्ञानिक साधनों की ईजाद से नदी, पर्वत और समुद्र की बाधा अब कोई बाधा नहीं रही । समुद्री और हवाई जहाजों ने समुद्रो और पर्वतों की महिमा ही खत्म कर दी और रेडियो, टेलिविजन तथा दूरभाष यंत्रों के प्रचार से तो सारी दुनिया ही सिमट कर एक शहर-जैसी हो गयी है । घटना दुनिया के किसी भी कोने में घटती हो, लेकिन, उसका समाचार हम तत्क्षण सुन लेते हैं । इसी प्रकार, दूरभाष पर हम चाहे जिस किसी देश में गए हुए अपने मित्र या संबन्धी से आसानी से बातचीत कर सकते हैं ।

जब यातायात के वैज्ञानिक साधन नहीं थे, उस समय दुनिया, सचमुच, बहुत बड़ी और विदेश, सचमुच, विदेश मालूम होता था। लेकिन, अब देश-विदेश में कोई ज्यादा फ़र्क नहीं है। दोपहर का भोजन बंबई में और उसी दिन रात का भोजन लन्दन में अब मजे में किया जा सकता है। और दुनिया की दूरी में जो कमी आयी उसका असर मनुष्यों के पारस्परिक संबन्धों पर भी पड़ा है। अब एक देश के मनुष्य दूसरे देशों के विचारों और घटनाओं से पहले की अपेक्षा अधिक प्रभावित होने लगे हैं और एक देश का साहित्य, बड़ी तेजी के साथ, अन्य देशों के साहित्य से असर लेने लगा है। अलग-अलग देश और अलग-अलग सरकारें तो अब भी हैं, लेकिन, सभी देशों का अब एक सम्मिलित राष्ट्रसंघ भी है जो सब देशों की समस्याओं पर विचार करता है। दुनिया में पहले-पहल एक विश्व-स्वास्थ्य-संघ बना है जो रोग-पीड़ित देशों की सेवा सारी दुनिया की तरफ से करता है। साथ ही, अब एक विश्व-बैंक भी है जो सारे संसार की तरफ से गरीब देशों को कर्ज़ दे रहा है। दुनिया बड़ी तेजी के साथ एकता की ओर चलने लगी हैं और अब यह संभव दिखायी देने लगा है कि एक देश जैसे कई प्रान्तों का बोझ सँभाले रहता है, वैसे ही, एक ही संसार सभी देशों की देख-भाल कर सकेगा और जैसे विभिन्न प्रान्तों के लोग एक राष्ट्र के अधीन शान्ति से जीते हैं, वैसे ही, सभी देशों के लोग एक संसार में शान्ति से जी सकेंगे।

राष्ट्रीयता के विकास का कारण यह माना जाता है कि एक देश में बसने-वाले लोग, अक्सर, एक इतिहास, एक पूर्वज, एक धर्म और एक भाषा में बँधे होते हैं। जहाँ ये सभी कारण एकत्र नहीं होते, वहाँ राष्ट्रीयता के जन्म का कारण गुलामी अथवा ऐसी ही कोई समान विपत्ति होती है। यूरोप में नैपोलियन ने जिन-जिन देशों को गुलाम बनाया उन-उन देशों में नैपोलियन के खिलाफ एकता का जोश उमड़ पड़ा। यही एकता उन देशों में राष्ट्रीयता के जन्म का कारण हुई। भारतवर्ष में धर्म और भाषा एक नहीं है। किन्तु, यहाँ भी जब अंगरेजी राज्य बना, इस देश की सारी जनता उस शासन का विरोध करने के लिए एक हो उठी और यही एकता भारत में राष्ट्रीयता के विकास का कारण बन गयी।

अक्सर देखा गया है कि राष्ट्रीयता का जन्म घृणा से होता है। नैपोलियन की हुकूमत के खिलाफ़ लोगों में एकता इसलिए आयी कि वे सभी लोग उस हुकूमत से घृणा करते थे। भारत में भी राष्ट्रीयता इसलिए पनपी कि यहाँ के लोग

विदेशी शासन से घृणा करने लगे थे। किन्तु, घृणा में भी रचनात्मक शक्ति होती है जैसे काम, क्रोध और लोभ भी रचनात्मक प्रवृत्तियों से युक्त होते हैं। इसीलिए, घृणा से जन्म लेने पर भी राष्ट्रीयता अनेक अर्थों में कल्याणमयी पायी गयी है।

उपयोग की दृष्टि से राष्ट्रीयता बड़ा ही मूल्यवान भाव है, क्योंकि जब तक राष्ट्रीयता नहीं जगती तब तक देश के एक वर्ग के लोग दूसरे वर्ग के लोगों के लिए त्याग नहीं करते, न एक प्रान्त के लोग दूसरे प्रान्त के लोगों के सुख-दुःख में शरीक होते हैं। और सब से बड़ी बात तो यह है कि गुलाम हो जाने पर जनता में यदि राष्ट्रीय भावना नहीं जगे तो वह गुलामी से छुटकारा ही नहीं पा सकती है। राष्ट्रीयता का गुण यह है कि वह एक देश में बसनेवाले सभी लोगों में एकता पैदा करती है। उसका दोष यह है कि वह अन्य देशों के विरुद्ध घृणा और भय जगा कर अपनी सत्ता क़ायम रखती है। संसार में आज जो शंका, भय और क्रोध का वातावरण है उसका कारण राष्ट्रों की शंकाएँ, राष्ट्रों का भय और राष्ट्रों का अहंकार है।

गुलाम जातियों के लिए राष्ट्रीयता अमृत का काम देती है, क्योंकि राष्ट्रीय उत्साह के बिना जातियाँ स्वाधीनता को नहीं पा सकतीं। किन्तु, सभी देशों के स्वाधीन हो जाने के बाद भी राष्ट्रीयता अगर बनी रही तो फिर विश्वबन्धुत्व और विश्वशान्ति का सपना केवल सपना ही रह जायेगा। गुलामी एक काँटा है, जिसके गड़ जाने पर हम उसे राष्ट्रीयता-रूपी दूसरे काँटे से निकालते हैं। लेकिन, काँटा निकल जाने के बाद यह क्या उचित है कि हम एक काँटे को तो फेंक दें और दूसरे को जेब में लिये चलें?

यदि घृणा वाली बात को हटा दें तो फिर राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में कोई ज्यादा फ़र्क नहीं रह जाता। पृथ्वी की दो गतियाँ होती हैं। वह अपनी धुरी पर भी घूमती है और साथ-साथ सूर्य के भी चारों ओर। पृथ्वी का अपनी धुरी पर घूमना राष्ट्रीयता का उदाहरण है और उसका सूर्य के चारों ओर घूमना अन्तर्राष्ट्रीयता का दृष्टान्त। ध्यान देने की बात यह है कि यदि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमना छोड़ दे तो उसका सूर्य के चारों ओर घूमना आप-से-आप रुक जायेगा। इसी प्रकार, यदि मनुष्य अपने देशवासियों को प्यार करना छोड़ दे तो इसका अर्थ यही लगाया जायेगा कि उसकी प्रेम-शक्ति का ह्रास हो गया है।

ग्रौर जिसकी प्रेम करने की शक्ति मारी गयी वह संसार तो क्या, एक दिन ग्रपने मित्रों से भी प्रेम करना छोड़ देगा। प्रेम करने की योग्यता में वृद्धि होने के कारण मनुष्य देश-प्रेमी ग्रौर राष्ट्रीय होता है। इसी योग्यता में कुछ ग्रौर वृद्धि होने से वह ग्रन्तर्राष्ट्रीय एवं विश्ववादी बन पाता है। राष्ट्रीयता ग्रौर ग्रन्तर्राष्ट्रीयता, ग्रौर कुछ नहीं, मनुष्य की उदारता की माप हैं। प्रेम ग्रौर उदारता की एक मंजिल राष्ट्रीयता कहलाती है। ग्रन्तर्राष्ट्रीयता उससे ग्रागे की मंजिल का नाम है।

राष्ट्रीयता ग्रौर ग्रन्तर्राष्ट्रीयता का भेद एक ग्रन्य रूपक द्वारा भी समझा जा सकता है। पानी जमने पर बर्फ ग्रौर हवा बन जाने पर भाप कहलाता है। प्रेम भी जब जम कर पत्थर हो जाय तब वह राष्ट्रीयता के दूषित रूप का उदाहरण होता है। वही प्रेम जब भाप बन कर हवा में उड़ने लगे तब उसे छूँछी ग्रन्तर्राष्ट्रीयता का दृष्टान्त समझना चाहिए। जो व्यक्ति ग्रपने देश से प्रेम ग्रौर ग्रन्य देशों से घृणा करता है, उसका प्रेम वह प्रेम है जो जम कर वर्फ या पत्थर हो गया है। इसके विपरीत, जिस ग्रादमी को दुनिया तो प्यारी, मगर, ग्रपना देश प्यारा नहीं लगता, उसका प्रेम वह प्रेम है जो भाप बन कर हवा में मँडरा रहा है। भाप ग्रौर बर्फ, ये दोनों ग्रनुपयोगी ग्रौर दोनों त्याज्य हैं। प्यास की ग्राग तो बहते हुए पानी से ही शान्त होती है। राष्ट्रीयता की शोभा तब है, जब वह ग्रन्य राष्ट्रों के विरुद्ध घृणा नहीं सिखाती हो। ग्रौर वह ग्रन्तर्राष्ट्रीयता तो बिलकुल फ़ालतू ग्रौर निराधार है, जिसकी जड़ ग्रपने देश में नहीं।

पटना
३–३–६०

कबीर के स्वप्न

भारत के प्राचीन कवियों में कबीर साहब एक ऐसे कवि हैं जिनकी कविताओं में समाज-सुधार का संदेश सब से अधिक है। उनके सत्य-लोक-गमन को कोई साढ़े चार सौ साल हो गये, लेकिन, आज भी उनके दोहे और पद पुराने नहीं लगते। ऐसा लगता है, मानों, उनकी रचना आज की स्थिति को सामने रख कर की गयी हो; मानों, उनके श्रोता पठानकालीन हिन्दुस्तानी नहीं, बल्कि, वर्त्तमान काल के भारतवासी रहे हों। इसका कारण यह है कि कबीर साहब ने मानव-समाज के बारे में जो सपना देखा था, वह अभी पूरा नहीं हुआ, न वह स्वप्न हमारी आँखों से ओझल हो पाया है। कबीर साहब भविष्यद्रष्टा कवि थे और भारतीय मानव-समाज की जो कल्पना उन्होंने की थी, वह इतनी मज़बूत निकली कि आज भी वह हमारे साथ है और हम उसी कल्पना को आकार देने के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

हिन्दू-समाज की सब से बड़ी त्रुटि उन्हें यह दिखायी पड़ी थी कि इस समाज के लोग विचार के धरातल पर यह तो विश्वास करते हैं कि सारी सृष्टि एक ही ब्रह्म से निकली है, इसलिए, सभी मनुष्य परस्पर समान हैं; किन्तु, आचार के धरातल पर उनका यह विश्वास खंडित हो जाता है, क्योंकि वे कुछ वर्णों को जन्मना श्रेष्ठ और बाकी को अधम मानते हैं, कुछ मनुष्यों को स्पर्श के योग्य और कुछ को अछूत मानते हैं। हिन्दू-समाज के भीतर प्रचलित इस रूढ़ि के खिलाफ़ कबीर साहब ने जीवन-पर्यन्त संघर्ष किया और सारी जिन्दगी हिन्दुओं को वे समझाते रहे कि जन्म से सभी मनुष्य समान हैं, ऊँच-नीच का भेद कर्म उत्पन्न करते हैं। अतएव, जन्म से एक को ब्राह्मण और दूसरे को शूद्र मत समझो, क्योंकि ऐसा विभेद करने का कोई आधार नहीं है।

एक बूँद, एकै मल-मूतर, एक चाम, एक गूदा,
एक ज्योति से सब उतपन्ना, को बाभन, को सूदा ?

पंडित, देखहु मन महँ जानी।
कहु धौं छूति कहाँ ते उपजी तबहिं छूति तुम मानी।

छूतिहिं जेवन, छूतिहिं अचवन, छूतिहिं जगत उपाया,
कहहि कबीर ते छूति विवरजित जाकै संग न माया ।

और जिस व्यक्ति के कर्म सुधर गये, जो षड्विकार से ऊपर उठ गया, उसकी जाति के बारे में सवाल उठाना तो और भी अनुचित है ।

जाति न पूछो साधु की, पूछि लीजियो ज्ञान,
मोल करो तरवारि का, परा रहन दो म्यान ।

× × ×

संतन जात न पूछो निर्गुनियाँ ।
साधु ब्राह्मन, साधु छत्तरी, साधै जाती बनियाँ ।
साधन माँ छत्तीस कौम हैं, टेढ़ी तोर पुछनियाँ ।

× × ×

हरि सेती हरिजन बड़े, समझु देखु मन माँहि,
कह कबीर जग हरि विषै सो हरि हरिजन माँहि ।

कबीर साहब स्वयं जुलाहा-वंश के थे जिस वंश का समाज में निम्न स्थान है, किन्तु, अपने कर्म की श्रेष्ठता के कारण जुलाहा होने में वे गर्व का अनुभव करते थे ।

कबीर मेरी जाति कौ सब कोइ हँसने हारु,
बलिहारी इस जाति की जिह जपियो सिरजनहारु ।

× × ×

जाति का मोर पूछत हो बाम्हन, बूझौ मोर गियान ।

× × ×

कासी में हम प्रगट भये हैं, रामानन्द चिताये,
निरगुन का संदेसा लाये, हंस उबारन आये ।

× × ×

जाति जुलहा मति को धीर,
हरषि-हरषि गुन रमे कबीर ।

संतों की ओर से जाति-प्रथा को चुनौती बहुत पुराने जमाने से मिलती चली आ रही है। ऐसे संतों में सब से बड़ा नाम महात्मा बुद्ध का है। असल में, कबीर, नानक, गाँधी आदि महात्मा उसी धारा के संत हैं जो धारा बुद्ध के कमंडलु से बही थी। किन्तु, इतने संघर्षों के बाद भी, जाति-प्रथा कायम है, यद्यपि, ज्यों-ज्यों समय बीतता है, उसके बंधन ढीले होते जाते हैं। नया हिन्दुस्तान इस प्रथा को सभी रूढ़ियों से मुक्त करने को आज भी संघर्ष कर रहा है और इस संघर्ष में हमें बहुत बड़ी प्रेरणा कबीर साहब से मिलती है।

नये भारत की दूसरी बड़ी समस्या हिन्दू-मुस्लिम-एकता की समस्या है। महात्मा गाँधी का सारा जीवन इस भयानक समस्या के सुलझाने का प्रयास था और, अन्त में, इसी समस्या के सुलझाने की कोशिश में उन्होंने वीरगति भी पायी। कितने आश्चर्य की बात है कि इस समस्या ने कबीर साहब को भी उतना ही बेचैन रखा था जितना बेचैन उसने गाँधीजी को रखा। फ़र्क यह है कि गाँधीजी के मुख से कभी कोई ऐसी बात न निकली जिससे हिन्दुओं अथवा मुसलमानों के दिल पर कोई धार्मिक चोट पहुँचे, लेकिन, कबीर साहब के सामने राजनीति का भय नहीं था। हिन्दुत्व और इस्लाम के बीच का भेद मिटाने के लिए उन्होंने दोनों ही धर्मों की इतनी कटु आलोचना की कि दोनों ही धर्मों के नेता तिलमिला उठे। नतीजा यह हुआ कि एकता तो आयी नहीं, हाँ, कबीर साहब पर कठिनाइयाँ बरस पड़ीं और उनके शत्रु दोनों ही गिरोहों में पैदा हो गये। लेकिन, उनकी निडर भाषा का यह परिणाम अवश्य हुआ कि उनके विचार अंगारों की तरह समाज की छाती में दहकने लगे और, उसी प्रकार, वे पिछले साढ़े चार सौ वर्षों से दहकते चले आ रहे हैं।

धर्म का उद्देश्य मनुष्य की आत्मा को परमात्मा की ओर ले जाना है और धर्मों के अनेक होने पर भी परमात्मा केवल एक है। कबीर साहब बार-बार मनुष्यों को उस एक परमात्मा का ध्यान दिलाते हैं और बार-बार कहते हैं कि इस एक को पाने के लिए अनेक पन्थ क्यों बनाते हो और पन्थ अगर अनेक बना भी लिये तो उन्हें ले कर परस्पर झगड़ते क्यों हो?

जो खोदाय मसजीद बसतु है, और मुलुक केहि केरा?
तीरथ-मूरत रामनिवासी, बाहर केहिका डेरा?

पूरब दिसा हरी को बासा, पच्छिम अलह-मुकामा,
दिल में खोज दिलहिं में खोजौ, इहैं करीमा-रामा।

साधो, देखो, जग बौराना।
हिन्दु कहत है राम हमारा, मुसलमान रहमाना,
आपस में दोउ लड़े मरतु हैं, भेद न कोऊ जाना।

× × ×

अरे, इन दोउन राह न पाई।
हिन्दू अपनी करै बड़ाई, गागर छुवन न देई,
बेस्या के पैताने सोवै, यह देखो हिन्दुआई।
मुसलमान के पीर औलिया मुर्गी मुर्गा खाई,
खाला केरी बेटी व्याहै, घरहि में करै सगाई।

धर्म के नाम पर विवाद करनेवालों से बढ़ कर मूर्ख कबीर साहब और किसी को नहीं मानते। जो मनुष्य धर्मों की तात्विक एकता को नहीं समझता, जो धर्म से बढ़ कर तस्वीह और माला को मानता है, उसका नाम ही कबीर साहब ने भोंदू लिख दिया है।

राम-रहीम जपत सुधि गई, उनि माला, उनि तसबी लई।
कहै कबीर, चेत रे भोंदू! बोलनिहारा तुरुक न हिन्दू।

जाहिर है कि सामाजिक आचारों के बारे में जिस महात्मा के ऐसे विचार हों, वह धर्म के बाह्याचारों को स्वीकार नहीं कर सकता। इसीलिए, कबीर साहब उन सारे बाहरी अनुष्ठानों के विरुद्ध हैं जो हिन्दू-धर्म या इस्लाम के लक्षण माने जाते हैं। वे जितने विरोधी तीर्थ, व्रत, यज्ञ, कंठी और माला के हैं उतने ही विरोधी वे हज़, रोजा और अजान के भी हैं, यद्यपि यह सत्य है कि कंठी-माला वे स्वयं भी पहनते थे। मन्दिरों के खोखलेपन की उन्होंने जैसी धज्जियाँ उड़ायी हैं, वैसी ही करारी चोटें उन्होंने मस्जिदों पर भी की हैं। और यह सब केवल यह दिखलाने के लिए कि धर्म के ये बाहरी लक्षण धर्म के वास्तविक रूप का प्रतिनिधित्व नहीं करते। कबीर साहब का उद्देश्य मनुष्यों के ध्यान को उस मूल-उत्स पर ले जाना था जहाँ से सभी धर्मों का जन्म होता है। कट्टरता की दृष्टि से देखें तो कहना पड़ेगा कि कबीर साहब न तो हिन्दू थे, न मुसलमान। वे उस

धर्म के विश्वासी थे जिसे माननेवाला हिन्दू पहले से ज्यादा अच्छा हिन्दू और मुसलमान पहले से ज्यादा अच्छा मुसलमान बन जाता है। वे सूफी अथवा रहस्यवादी सन्त थे और उनका धर्म बहुत कुछ वही था जिसे डाक्टर राधाकृष्णन ने आत्मा का धर्म कहा है। मन्दिरों, मस्जिदों और गिरजाघरों का महत्त्व धीरे-धीरे घटने लगा है। दुनिया आहिस्ता-आहिस्ता उस धर्म की ओर बढ़ती जा रही है जो बाह्याचारों से मुक्त होगा, जिसकी साधना के लिए मनुष्य देवालयों में न बैठ कर अपने मन के मन्दिर में समाधि लगायेगा और जिसके बाहरी लक्षण, तिलक, तस्वीह और क्रास नहीं, बल्कि, दया, सहनशीलता और उदारता के आचरण होंगे। रवीन्द्रनाथ ने कहा है, "धर्म को पकड़े रहो, धर्मों को छोड़ दो।" इस छोटे-से वाक्य में जो अनन्त प्रेरणा भरी हुई है, वह सारी की सारी कबीर साहब की कविताओं में लहरा रही है।

पाती तोरे मालिनी, पाती-पाती जीउ,
जिसु पाहन को पाती तोरे सो पाहन निरजीउ।

पत्ती-पत्ती में जीव है, फिर भी, मालिन पत्ती तोड़ रही है। वह नहीं जानती कि वह सजीव को तोड़ कर निर्जीव की पूजा करना चाहती है, क्योंकि, पत्थरों में प्राण नहीं होते।

जोगी गोरख-गोरख करै, हिन्दू राम नाम उच्चरै,
मुसलमान कहै एक खुदाई, कबीर को स्वामी घट घट रह्यो समाई।

विभिन्न पन्थों की तुलना कबीर साहब ने गुड़ियों के खेल से की है। लड़की जब तक व्याही नहीं जाती, तभी तक गुड़िये उसके मन को बहला सकते हैं। विवाह होते ही उसका सारा ध्यान गुड़ियों से हट कर पति में लग जाता है। अर्थात् सच्चे धर्म का ज्ञान होते ही मनुष्य धर्म के बाह्याचारों को छोड़ देता है।

करो जतन सखि! साईं मिलन की।
गुडिया-गुड़वा, सूप-सुपलिया, तजिदे बुधि लड़िकैयाँ खेलन की।
देवता-पित्तर, भुइयाँ-भवानी, यह मारग चौरासी चलन की।
ऊँचा महल, अजब रँग बँगला, साईं की सेज वहाँ लागी फूलन की।
तन, मन, धन, सब अर्पन कर वहाँ, सुरत सँभार, परूँ पैयाँ सजन की।
कहै कबीर निर्भय होय हंसा, कुंजी बता दूँ तोहे ताला खुलन की।

मानवता भी अभी, शायद, अपने बचपन में है। इसीलिए, वह गुड़ियों से इतना मोह रखती है। इसीलिए, वह अनेक पन्थों को पूज रही है। जब उसका बचपन बीत जायेगा, वह भी शायद, सूप-सुपलियों को छोड़ कर आत्मा के धर्म पर आ जायेगी। कबीर साहब ने अपने समय से बहुत आगे का स्वप्न देखा था। वह स्वप्न कभी-न-कभी साकार होगा।

यह 'ऊँचा महल' और 'अजब रंग बँगला' क्या है, शब्दों में कुछ कहा नहीं जा सकता। किन्तु, सभी धर्मों से ऊपर उठ कर कबीर किसी ऐसी ऊँचाई पर पहुँचे थे जहाँ से सभी पन्थों का जन्म होता है, यह दावा उन्होंने कई बार किया है।

हद्द छाँड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनान,
मुनिजन महल न पावई, तहाँ किया बिसराम।
राम भजत हैं नाम को, नाम भजत कछु और,
वाहू ते कुछ और है, वाको भजै कबीर।
सुर, नर, मुनि अरु औलिया, ये सब बेलैं तीर,
अलह राम की गम नहीं, तहँ घर किया कबीर।

अर्थात् केवल इस्लाम अथवा केवल हिन्दुत्व की राह से चलनेवाला साधक वहाँ नहीं पहुँच सकता, जहाँ मैंने अपना आसन जमाया है। यहाँ तक पहुँचनेवाले को धर्म के बाहरी अनुष्ठानों का त्याग करना पड़ेगा।

सूफियों का एक लक्षण रहा है कि वे ज्ञान को संदेह से देखते हैं। यही संदेह हम उन सभी आधुनिक चिंतकों में भी देखते हैं जो आत्मा के धर्म में विश्वास करते हैं। श्री रामकृष्ण परमहंस नास्तिक पंडितों के बारे में कहा करते थे कि वे लोग बलशाली गृद्ध के समान हैं। गृद्ध की दृष्टि दूर तक देखती है और वह बहुत ऊँचाई तक उड़ सकता है। लेकिन, आँख उसकी नीचे की मरी पर ही लगी रहती है।

कबिरा मन पंछी भया बहुतक चढ़ा अकास,
ऊहाँ ही ते गिरि पड़ा मन माया के पास।

निरे ज्ञान से मनुष्य का उद्धार होनेवाला नहीं है। उद्धार उसका तभी सम्भव है जब उसमें दया-माया और प्रेम की उत्पत्ति हो।

कबीर पढ़ना दूर करि आथि पढ़ा संसार,
प्रीति न उपजी पीउ सूँ तो क्यूँ करै पुकार।
परवत-परवत मैं फिरा, नैन गँवाया रोय,
सो बूटी पाऊँ नहीं जाते जीवन होय।
पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित हुआ न कोय,
ढाई अच्छर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय।
कबिरा पढ़ना दूर करि पोथी दइ बहाइ,
बावन आखर सोधि करि ररै-ममै चित लाइ।

युग के अनुसार हमारी भाषा बदल गयी है, लेकिन, भाव एक ही है। कबीर ने ज्ञान से शास्त्र-ज्ञान का अर्थ लिया था। आज का शास्त्र-ज्ञान विज्ञान है और अपने समय में ज्ञान को ले कर कबीर की जो चिन्ता थी, विज्ञान को ले कर वही चिन्ता आज के युग में देखी जा सकती है। पंडित और मूर्ख में से मूर्ख का पक्ष लेते हुए इकबाल ने लिखा है,

तेरी बेइल्मी ने रख ली बेइल्मों की शान,
आलिम-फाजिल बेच रहे हैं अपना दीन-ईमान।

और पंडित तथा मूर्ख में से मूर्ख का पक्ष लेते हुए कबीर ने भी कहा था,

कबिरा कोठी काठ की, दस दिसि लागी आगि,
पंडित-पंडित जरि मुए, मूरख उबरै भागि।

और हम में से भी कौन है जो निर्दय ज्ञानी और दयालु मूर्ख में से ज्ञानी को पसन्द करेगा ?

और, संसार में शान्ति कैसे लायी जा सकती है, यह संकेत भी कबीर ने स्पष्ट किया है। हमें केवल इतना करना है कि जो कुछ व्यष्टि के लिए कहा गया है, उसे हम समष्टि पर भी लागू कर दें।

तीर-तुपक से जो लड़े, सो तो सूर न होय,
माया तजि भगती करै, सूर कहावै सोय।
जग में वैरी कोय नहीं, जो मन सीतल होय,
या आपा को डारि दै, दया करै सब कोय।

नयी दिल्ली
१७-१२-१९५८

वीरता की परम्परा और गाँधी-मार्ग

गाँधीजी की सब से बड़ी देन क्या है? अहिंसा या सत्य? ब्रह्मचर्य या विनम्रता? अपरिग्रह या अस्तेय? अपनी-अपनी रुचि के अनुसार लोग इनमें से कुछ या सब को गाँधी-मार्ग का निचोड़ मान सकते हैं। किन्तु, मेरे मत से गाँधीजी की सब से बड़ी देन अभय है। सन् १९४९ ई० में, जब गाँधीजी की मृत्यु का शोक बिलकुल ताजा था, मैंने, अभय को ही गाँधी-मार्ग का सार मान कर, चारण-शैली में, एक कविता लिखी थी, जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं,

> **मोह तिमिर है, मोह मृत्यु है, छोड़ो इसे अभागो रे!**
> **भय का बंधन तोड़ अमृत के पुत्र मानवो, जागो रे!**
> **दमन करो मत कभी, सत्य को खुल कर बाहर आने दो,**
> **भय के भीषण अंधकार में ज्योति उसे फैलाने दो।**
> **जुल्मी को जुल्मी कहने में जीभ जहाँ पर डरती है,**
> **पौरुष होता क्षार वहाँ, दम घोंट जवानी मरती है।**
> **सत्य न होता प्राप्त कभी भी सत्य-सत्य चिल्लाने से,**
> **मिलता है वह सदा एक निर्भयता को अपनाने से।**

गाँधीजी ने भारत का सब से बड़ा उपकार यह किया कि उसके मन में समायी हुई भीति को दूर कर दिया। पतलून और टाई पहननेवाले नेताओं के युग में जब उन्होंने किसानों की मिरजई और पगड़ी पहन ली, तब वह निर्भयता का काम था। काशी की सभा में, जहाँ सारे के सारे भाषण अँगरेजी में हो रहे थे, गाँधीजी ने जब यह कहा कि "यहाँ काशी में भी लोग गंगा का जल नहीं, टेम्स का ही पानी पी रहे हैं", तब वह अभय का उदाहरण था। आतंक से सहमे हुए किसानों के बीच, चंपारण में, जब वे यह कह कर बैठ गये कि "आओ, किस किस पर क्या बीती है, उसे हम कागज पर लिख डालें", तब यह गरीबों के मन से भय को बाहर निकालने की तैयारी थी। असहयोग-आन्दोलन से पूर्व जब उन्होंने यह घोषणा की कि "यह सरकार शैतानियत से भरी है; मैं या तो इसे सुधार दूंगा अथवा खत्म कर दूंगा", तब इस मंत्र के द्वारा वे सारे देश से भय का ही भूत भगा रहे थे। और

मरती हुई गाय को, जहर की सुई दिलवा कर, जब उन्होंने शान्त कर दिया, तब वे हिन्दुओं के मन से किसी भय को ही निकाल रहे थे। गाँधीजी की सब से बड़ी उपलब्धि भारतवासियों के मन को निर्भय बनाना था। बाकी बातें, यहाँ तक कि स्वतन्त्रता भी, उसी निर्भयता से निकल पड़ी।

किन्तु, अहिंसा पर गाँधीजी ने इतना अधिक जोर दिया कि अब बहुत-से लोग उन्हें उन संतों की पंघत में बिठाने लगे हैं जो संसार-त्याग की शिक्षा देते थे, जो संघर्षों से पलायन सिखाते थे, जो उस जगह से भाग खड़े होने के अभ्यासी थे, जहाँ कोई भी अत्याचार हो रहा हो।

बुद्ध, ईसा, कबीर और नानक ने मनुष्य की इहलौकिक समस्याओं को महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने आदमी को, भीतर-बाहर से माँज कर, उसका परलोक सुधारना चाहा। धर्म की सब से अधिक अवहेलना राजनीति में होती है; सांसारिकता का घोरतम रूप राजनीति में प्रकट होता है; अतएव, सन्तों ने लोगों को यह सिखाया कि राजनीति से अलग रहो और, हो सके तो, गार्हस्थ्य को भी छोड़ दो। शायद, सन्तों ने राजनीति को लाइलाज मान लिया था; उसी की लपेट में गार्हस्थ्य भी आ गया।

गाँधीजी संसार के पहले सन्त हैं, जिन्होंने अपने प्रयोग की सारी बुनियाद राजनीति पर रखी। मनुष्य का इलाज उन्होंने वहीं से शुरू किया, जहाँ कोढ़ का प्रकोप सब से अधिक है। यदि राजनीति सुधर गयी तो सारा मानव-समाज सुधर जायगा। गाँधी की कल्पना का असली देश वह होगा, जहाँ के शासक वानप्रस्थी होंगे और जिसके राजदूत अन्तर्राष्ट्रीय सभाओं में भी, अपने देश की प्रतिष्ठा बचाने या बढ़ाने के लिए झूठ का आश्रय नहीं लेंगे। और चूँकि गाँधीजी के प्रयोग का मुख्य क्षेत्र राजनीति थी, इसलिए, उनका हिंसा-अहिंसा-विषयक विचार सब से महत्त्वपूर्ण हो गया और लोग, प्रायः, इस बात को भूलने लगे हैं कि गाँधीजी की शिक्षाओं में निर्भयता का स्थान अहिंसा से भी ऊपर आता है।

जब गाँधीजी नोआखाली गये थे, उनसे मिलने को नौजवानों का एक दल आया, जिसमें कुछ ऐसे युवक भी थे जिन्होंने, किसी समय, चटगाँव के शस्त्रागार पर छापा मारा था। युवकों का कहना था कि अहिंसा का असर यहाँ नहीं होगा, क्योंकि संख्या में हम न्यून हैं। गाँधीजी ने कहा, "मैं यह कहने नहीं आया हूँ कि आप मेरी पद्धति का अनुसरण करें। आप पारंपरीण वीरता से काम ले

सकते हैं। लेकिन, यह तो है ही कि मैं चटगाँव-शस्त्रागार पर छापा मारनेवालों के बीच हथियार बाँटने नहीं आया हूँ। दु:ख तो यह है कि उन नौजवानों की वीरता संक्रामक नहीं हुई।"

नवयुवकों में से एक ने कहा, "संक्रामक होती कैसे? हमारी तो निन्दा हुई थी।"

गाँधीजी बोले, "निन्दा किसने की थी? क्या मुझसे तात्पर्य है? तो मैं तो करूँगा। मगर, जनता ने निन्दा नहीं की थी।"

नौजवान बोला, "जनता ने क्या बड़ाई की थी? मैं खुद उन छापामारों में से एक हूँ।"

गाँधीजी बोले, "मैं क्यों मानूँ कि तुम उन्हीं नौजवानों में से एक हो? यदि तुम उनमें से एक होते तो आज यह कलंक की कहानी सुनाने को जीवित नहीं रहते।"

सारे बचाव के बीच से यहाँ गाँधीजी ने कहना क्या चाहा है? एक ही बात; यानी मुख्य काम निर्भीकता है, मुख्य काम अत्याचार का विरोध है। उत्तम यह है कि उसे मेरे रास्ते पर चल कर करो, नहीं तो उस रास्ते से जो तुम्हें पसन्द हो।

और स्वाधीन होते ही भारत को अपनी फ़ौज जो काश्मीर भेजनी पड़ी, सो उस काम से क्या गाँधीजी का विरोध था? गाँधीजी उस समय तो जीवित ही थे।

फिर भी कोई व्यक्ति यदि यह कहे कि अन्याय का विरोध अहिंसा से संभव न हो तो विरोध मैं करूँगा ही नहीं, तो कहना यही चाहिए कि उस व्यक्ति ने गाँधी-धर्म को ठीक से नहीं समझा है। गाँधी-मार्ग की पहचान अहिंसा नहीं, धर्मसम्मत वीरता है; प्रार्थना नहीं, प्रहार है, पलायन और समाधि नहीं, उद्यम और अभियान है।

संसार की यह बहुत बड़ी कमजोरी है कि वह व्यष्टि और समष्टि के धर्मों को एक नहीं मानता। परोपकार के लिए झोली झाड़ कर कंगाल हो जानेवाले लोग बहुत हुए हैं, किन्तु, किसी दु:खी देश को सुखी बनाने के प्रयास में कोई देश कंगाल हो गया हो, इसका उदाहरण इतिहास में नहीं मिलता। इसी प्रकार, वैयक्तिक जीवन में तो हम दूसरों का अहंकार बर्दाश्त कर लेते हैं, किन्तु, वही अहंकार यदि एक पूरा देश दिखलाये, तो हम उसे सहना नहीं चाहते।

अहिंसा का सिद्धान्त इस देश में वेदों के ही समान, प्राचीन है, किन्तु, अन्य देशों के समान वह यहाँ भी वैयक्तिक धर्म में सीमित रहता आया था। इसलिए, गाँधीजी ने अहिंसा का प्रयोग जब सामूहिक धर्म के लिए आरंभ किया, दुनिया चौंक कर उन्हें देखन लगी। संत भी योद्धा होते हैं, यह बात संसार को मालूम थी; किन्तु, अहिंसा भी योद्धा का शस्त्र हो सकती है, इसका प्रमाण पहले पहल गाँधीजी ने ही दिया।

भक्त और शूरमा, श्रेष्ठ मनुष्य के ये दो रूप संसार में सर्वत्र पूजित रहे हैं और जब भी ये दोनों रूप एक ही व्यक्ति में मिल जाते हैं, उसके आसपास का आकाश प्रकाश से पूर्ण हो उठता है। आंजनेय हनुमान ऐसे ही पुरुष थे; परशुराम ऐसे ही पुरुष थे; अर्जुन और भीष्म ऐसे ही पुरुष थे और मध्यकालीन भारत में गुरु गोविन्द सिंह भी ऐसे ही पुरुष हुए हैं। सिक्ख तो भावुक भक्त थे। काल की प्रेरणा से गुरु हरगोविन्द ने उन्हें सामरिकता की ओर प्रवृत्त किया और गुरु-गोविन्द ने उन्हें एक साथ वीर और भक्त बना डाला। भक्ति की लता पर सामरिकता की कलम लगा कर गुरु गोविन्द ने परशुराम-धर्म की आवृत्ति की थी। इसीलिए, गुरु गोविन्द को मैं परशुराम का दूसरा अवतार मानता हूँ।

गाँधीजी को परशुराम के साथ मिलाना ठीक नहीं है। किन्तु, यह तो है ही कि गाँधीजी में भी भक्त और वीर एकाकार थे। हाँ, उनकी वीरता, अहिंसा पर आधारित होने के कारण, तपस्वी की ही आराधना-सी दिखायी देती है। यह साधन का भेद है और सत्य बात यह है कि साधन के बदलने से बहुत कुछ, आप-से-आप, बदल जाता है। किन्तु, जहाँ तक मूल भावना का सम्बन्ध है, गाँधीजी में वह अन्तरग्नि, वह तेजस्विता कूट-कूट कर भरी थी जिस आग से अन्याय का प्रतिकार करनेवाले बड़े-से-बड़े वीरों का निर्माण होता है। इसलिए, गाँधीवाद मात्र विनय और प्रार्थना नहीं, वह संघर्ष और प्रतिकार भी है। सच्चा गाँधी-मार्गी वह है जो अन्याय का विरोध करता है, अत्याचारों के विरुद्ध अपनी जान की बाजी लगा देता है; वह नहीं जो यह सोच कर निश्चेष्ट बैठ जाता है कि चेष्टा आरंभ करने से कहीं रक्तपात न हो जाय। गाँधीजी बकरी का दूध पीते थे, किन्तु, उस बकरी की टाँगें लोहे की थीं, जो झुकना नहीं जानती थीं।

नयी दिल्ली
१५-९-६०

एक कविता की जन्म-कथा

बात सितंबर १९२९ ई० की है।

यतीन्द्रनाथ दास, भगतसिंह, वटुकेश्वर दत्त तथा उनके बीसियों अन्य सहयोगी लाहौर के बोर्सटल जेल में बन्द थे। सरकार ने उन्हें सशस्त्र-क्रान्ति की तैयारी करने की आशंका अथवा अभियोग में जेल में बन्द कर रखा था और जान-बूझ कर वे एक ऐसे जेल में रखे गये थे जहाँ ग़ैर-राजनीतिक कैदियों से उनकी मुलाकात नहीं हो सकती थी। देश के पचासों मुँछ-उठान, विद्रोही नौजवान, जिनके दिलों में आज़ादी की निर्भीक आग धधक रही थी, खतरनाक समझे गये थे और उन्हें सभी कैदियों से अलग इसलिए रखा गया था कि यह आग छूत न फैलाये, वह संक्रामक हो कर उन्हें भी न लपेट ले जिन में राजनीति की चेतना नहीं थी। बोर्सटल जेल लड़कों का जेल था और अब लड़कों से अभिप्राय उन बच्चों और नौजवानों से था जो फूँक-फूँक कर कदम धरने के कायल नहीं थे, जो प्राण हाथ में लेकर बेबाक विद्रोह की ज्वाला में कूद पड़ने के विश्वासी थे।

और तब ऐसा हुआ कि जुलाई महीने में इन बन्दियों की सरकार से खटपट बढ़ने लगी। मई अथवा जून से ही बन्दियों ने यह शिकायत शुरू की थी कि जेल में उनके साथ बुरा बर्ताव किया जाता है। किन्तु, सरकार ने उनकी शिकायतों पर कोई ध्यान नहीं दिया। परिणाम यह हुआ कि जुलाई में आकर बन्दियों ने अनशन आरंभ कर दिया और, जैसा अक्सर होता है, आरम्भ में, इस अनशन से देश में खलबली नहीं मची। लोग सोचते रहे कि सरकार कोई दुर्घटना नहीं होने देगी। नौजवानों की माँगें जायज हैं, देर-अबेर करके वे मान ली जायँगी।

मगर, ब्रिटिश सरकार का कलेजा तो पत्थर का था। दिन-पर-दिन बीतते गये और सरकार के कान पर जूँ भी नहीं रेंगी। फिर अखबारों में ये खबरें आने लगीं कि सभी नौजवानों की हालत चिन्तापूर्ण है, उन्हें नाक की राह से जबर्दस्ती भोजन दिया जा रहा है, उनकी नाकों से रक्त निकलने लगा है, अनशन तुड़वाने को सरकार उन पर भयानक जुल्म कर रही है। इन खबरों से सारे देश को बुखार चढ़ने लगा। सारे देश के राष्ट्रवादी, निर्भीक समाचार-पत्र अपने लेखों

और टिप्पणियों में आग उगलने लगे। सारे देश में, स्कूलों, कालेजों, छात्रावासों, होटलों और घरों में भी यही चर्चा छिड़ गयी और लोग अधीरता से इस बात की प्रतीक्षा करने लगे कि देखें, कल का अख़बार क्या ख़बर लाता है।

और कल के अखबार में ख़बर यह छपती कि अमुक नौजवान बेहोश हो गया, अमुक की हालत बहुत खराब है और अमुक नौजवान ने अपना अनशन तोड़ दिया है।

अनशन का व्रत अत्यन्त कठोर व्रत है। भूख से आँतें जल रही हों, आँखों के सामने अन्धकार छा रहा हो और बाहर पास ही भोजन मौजूद हो, बल्कि, वह मुँह और नाक के भीतर जबर्दस्ती ठूँसा जा रहा हो, ऐसी हालत में अनशन पर टिका रहना कोई साधारण साहस की बात नहीं है। अनशन की पीड़ा से घबरा कर ऐसे बहादुरों ने भी व्रत तोड़ दिया जो फाँसी के तख्तों पर खुशी-खुशी झूल सकते थे। इसमें कोई आश्चर्य नहीं था, क्योंकि तिल-तिल, घुल-घुल कर मरने की अपेक्षा एक झटके में पार उतर जाना वीरों के लिए बहुत ही आसान काम है। किन्तु, इस वीरता से अनशन की वीरता की तुलना नहीं हो सकती। अनशन की वीरता में आत्मबल का तेज चाहिए। एक झटके में दौड़ कर मृत्यु का आलिंगन कर लेना एक बात है, किन्तु, मृत्यु की ओर अपार कष्ट सहते हुए, एक-एक पद को मन्दगति से उठा कर गलते-पिघलते हुए चलना बिल्कुल दूसरी बात है। यह कसौटी साधारण शूरता की कसौटी नहीं, प्रत्युत्, वह निकष है जिस पर शूरों के संकल्प की जाँच होती है, उनकी निर्भीकता ही नहीं, धीरज और कष्ट-सहिष्णुता की भी परख होती है।

अनशन का व्रत किसी ने तीस दिनों के बाद तोड़ा, किसी ने चालीस और किसी ने पचास दिनों के बाद। किन्तु, पच्चीस साल के सुकुमार विद्रोही बंगाली नौजवान, यतीन्द्रनाथ दास का व्रत अभंग चलता रहा। ज्यों-ज्यों उनके व्रत की अवधि बढ़ती गयी, यतीन्द्र के बारे में देश की चिन्ताकुलता में भी वृद्धि होती गयी। वे समस्त भारत की आँखों के एकमात्र केन्द्र हो गये। प्रत्येक राष्ट्रवादी भारतीय को यह लगने लगा, मानों, यतीन उसके अपने भाई, अथवा पुत्र हों। देश के कुछ बड़े लोगों ने सरकार को सुझाव दिया कि इन राजबन्दियों से कोई-न-कोई तसफीया करके यतीन को बचा दो। मगर, सरकार आँखें लाल किये मौन रही और यतीन अपने प्रण पर उसी प्रकार अडिग खड़े रहे जैसे हिमालय

अपनी जगह पर अडोल है। ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तान की नौजवानी को चुनौती दी थी। यतीन उस चुनौती का आखिरी जवाब दे रहे थे।

और तब भारत में एक सप्ताह ऐसा आया जैसा सप्ताह, मेरी याद में, और कभी नहीं आया है। अनशन छोड़नेवाले कई नौजवानों ने फिर से अनशन आरम्भ कर दिया था, किन्तु, ये शिखाएँ अब उपग्रहों की शिखाएँ हो गयी थीं। मूल शिखा तो वही थी जो यतीनदास की कुर्बानी से निकल कर अब आकाश को छू रही थी। सारे देश का हृदय क्षोभ, करुणा, ममता और बेचैनी से भर गया। सारा देश विवशता-भरी मनोव्यथा की उस कुचलन से काँप उठा जिससे निकलने की राह होती ही नहीं है। एक व्यक्ति की तपस्या और कुर्बानी एक पूरे देश को औंट कर किस प्रकार धर देती है, इस सत्य को यतीनदास के अनशन ने जितना प्रत्यक्ष किया उतना और कोई क्या करेगा ?

जब देश इस क्षोभ और मानसिक कुचलन से गुजर रहा था, ठीक उसी समय, पंडित माखनलाल चतुर्वेदी की वह कविता प्रकाशित हुई जिसका शीर्षक है : 'मरण-त्योहार'। कविता के प्रकाशित होते ही काव्य-रसिक जनता में एक तहलका मच गया। कविता क्या थी, बोर्सटल जेल के बन्दियों के साहस की पूरी तसवीर थी और देश की दबी हुई अन्तर्व्यथा उसमें खुल कर फूट पड़ी थी।

जम्बुकेश ! चलो, जहाँ संहार है,
वन्य पशुओं का लगा बाजार है,
आज सारी रात कूकेंगे वहाँ,
मोम-दीपों का मरण-त्योहार है।

और इन मोम-दीपों के साहस को कवि ने बड़ी ही व्याकुलता से चित्रित किया था। हिंसा की राह चाहे जितनी भी ग़लत राह रही हो, किन्तु, उस पर नौजवान गये क्यों ? इसीलिए तो कि कानून और अहिंसा की राह, जिस पर देश के परिपक्व नेता चल रहे थे, तब तक विफल दीख रही थी ?

नाश का आकाश में तमतोम था,
फैल कर भी विवश सारा व्योम था।
उस समय सहसा सफेदी बह उठी,
मोम की पिघली शिखाएँ कह उठीं।

नाश जी! नक्षत्र यदि लाचार हैं,
श्री सुधाकर भी उतरते द्वार हैं।
तो जलेंगी तेल कर निज कामना,
आइये, मिट कर करेंगी सामना।

दो-तीन दिन बाद, इस कांड पर मैथिलीशरणजी की भी चार पंक्तियाँ प्रकाशित हुईं और उन्होंने भी पिघल कर उजाला करने का रूपक ही अपनी कविता में बाँधा था जिसकी अन्तिम पंक्ति थी कि (हमारे ये नौजवान) "कह रहे हैं, इस तिमिर में देख लो यह राह।"

देश रोता रहा, देश छटपटाता रहा, देश विफल क्रोध में भर कर उबलता रहा। और तब १४ सितम्बर को अखबारों ने ख़बर छापी, "यतीनदास शहीद हुए।" फिर क्या था, घर-घर में कुहराम मच गया। क्रोध से भरी हुई जनता घरों से निकल कर सड़कों पर आ गयी, सभाओं में सरकार की निर्दयता की निन्दा होने लगी और प्रत्येक नगर में क्रुद्ध जनता के जुलूस निकलने लगे।

साधारणतः, समझा यह जाता है कि घटनाएँ कविता में तुरन्त प्रविष्ट नहीं होतीं। घटना और कविता के बीच कुछ अवकाश चाहिए जिससे घटना के भीतर का प्रच्छन्न कवित्व कवि के मानस-चक्षु के सामने प्रत्यक्ष हो सके। किन्तु, उस रात मैं अपनी व्यथा को पंक्तिबद्ध करने बैठ गया। मैं उन दिनों आइ० ए० के द्वितीय वर्ष का छात्र था और पटने के एक साधारण से छात्रावास में रहता था। उस रात मुझे नींद नहीं आयी। सारी रात मैं रोता रहा और सारी रात मेरे आँसू नवीन पंक्तियों को जन्म देते रहे। दूसरे दिन प्रातःकाल, श्रीयुत् रामवृक्ष बेनीपुरी और श्री ज्ञानसाहा छात्रावास में मेरे पास पहुँचे। "राजेन्द्र बाबू चाहते हैं कि आज के जुलूस में केवल वे ही लोग आयें जो प्राण देने को तैयार हों। सो, तुम इस कागज पर दस्तखत करो।" मैंने बिना कुछ सोचे-समझे उस कागज पर दस्तखत कर दिया। फिर मैंने कोई दो सौ पंक्तियों की एक लंबी कविता बेनीपुरीजी के सामने रख दी। बेनीपुरीजी ने उनमें से केवल आठ पंक्तियाँ छाँट कर 'युवक' नामक अपने तत्कालीन यशस्वी मासिक पत्र में प्रकाशित कीं। वे पंक्तियाँ ये थीं :

निर्मम नाता तोड़ जगत से अमरपुरी की ओर चले,
बंधन-मुक्ति न हुई, जननि की गोद मधुरतम छोड़ चले।
जलता नन्दन-वन पुकारता, मधुप ! कहाँ मुँह मोड़ चले ?
बिलख रही यसुदा, मोहन, क्यों मुरली मंजु मरोड़ चले।
उबल रहे सब सखा, नाश की उद्धत एक हिलोर चले।
पछताते हैं वधिक, पाप का घड़ा हमारा फोड़ चले।
माँ रोती, बहनें कराहतीं, घर-घर व्याकुलता जागी,
उपल-सरीखे पिघल-पिघल तुम कहाँ चले मेरे बागी ?

१९५८ ई० }

साहित्य का धर्म

कल बाबा (पूज्य विनोबाजी) ने साहित्य पर बोलते हुए तीन ऐसी बातें कहीं जिनकी ओर हम सब का ध्यान जाना चाहिए। उन्होंने कहा कि साहित्य में सत्य की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। दूसरी बात उन्होंने यह कही कि शब्द की शक्ति का ह्रास हो रहा है, साहित्यकारों का कर्त्तव्य है कि वे शब्द-शक्ति के ह्रास की प्रक्रिया को रोकें। और तीसरी बात उन्होंने यह कही कि धर्म का प्रभाव लुप्त हो चला है; इसी प्रकार, राजनीति का प्रभाव भी लुप्त हो जायेगा। तब केवल अध्यात्म और विज्ञान, ये दो तत्व ही शेष रह जायेंगे। लेकिन, अध्यात्म और विज्ञान के साथ कला भी अवश्य जीवित रहेगी, क्योंकि अध्यात्म और विज्ञान को एक दूसरे से मिलाना, उनका परस्पर परिचय कराना, यह अत्यन्त आवश्यक कार्य है और इसे वे ही कर सकते हैं जो कवि या कलाकार हैं।

बातें तो तीनों ही महत्त्वपूर्ण हैं, लेकिन, यह आखिरी बात मुझे बहुत पसन्द आयी। संभव है, इस बात के लिए मेरा मन पहले से ही तैयार रहा हो। जब बाबा बोल रहे थे, मुझे अचानक मैथ्यू आर्नाल्ड की बात याद आ गयी। विज्ञान और धर्म के बीच संघर्ष देख कर मैथ्यू आर्नाल्ड ने भी कहा था, जीवन में यदि किसी दिन धर्म अनादृत हो गया तो वह कविता में आश्रय खोजेगा। आर्नाल्ड की वह भविष्यवाणी पूरी हो रही है। विज्ञान की बढ़ती से धर्म अनादृत हो गया और आज उसकी आत्मा कविताओं में छिप कर जी रही है। धर्म चला गया, लेकिन, अध्यात्म शेष है और वह सदैव शेष रहेगा। और मुझे बाबा की यह भविष्यवाणी भी समीचीन लगती है कि विज्ञान और अध्यात्म के बीच जिस सेतु की आवश्यकता है, उसका निर्माण साहित्यकार ही करेंगे। सच पूछिये तो यह कार्य आरम्भ हो चुका है। एक समय सभी कवि आँख मूंद कर विज्ञान की निन्दा करते थे। किन्तु, अब जहाँ अध्यात्म की सत्ता मान्य है, उन देशों में ऐसे कवि उत्पन्न होने लगे हैं जो विज्ञान का विरोध नहीं करते। इसी प्रकार, जिन देशों में भौतिकवाद की प्रधानता है, उन देशों में भी एकाध ऐसे कवि हैं जो अध्यात्म में विश्वास करते हैं। यह आदि सोपान है। अगली सीढ़ियाँ समय के साथ प्रकट होती जायेंगी।

बाबा की इस भविष्यवाणी का एक और महत्त्व है। आज सारे संसार के आलोचक इस प्रश्न पर फिर नये सिरे से विचार कर रहे हैं कि कविता का वास्तविक धर्म क्या है। यदि कविता दर्शन की चेरी है तो फिर उसकी सत्ता अनिवार्य नहीं रह जाती, क्योंकि दर्शन का जितना अधिक ज्ञान एक मामूली पाठ्य-पुस्तक से होता है उतना बड़े-से-बड़े काव्य से भी नहीं हो सकता। यदि कविता राजनीति की सेविका है तो कवि हीन और राजनीतिज्ञ श्रेष्ठ माना जायेगा। यदि कविता समाजशास्त्र की चेरी है तो फिर समाजशास्त्र मुख्य और कविता गौण मानी जानी चाहिए। आज तक कविता बहुत ही ऊँचे पद की अधिकारिणी रही है। किन्तु, अब उसका वह पद अक्षुण्ण तभी रह सकता है जब यह स्पष्ट हो जाय कि मनुष्यता के कुछ ऐसे भी कार्य हैं जिन्हें राजनीति, धर्म, दर्शन और समाजशास्त्र नहीं कर सकते, जिन्हें केवल कविता ही सम्पन्न कर सकती है।

वह कौन कर्म है जिसे केवल कवि ही कर सकता है, इस प्रश्न का उत्तर है, और प्रत्येक देश में ऐसे लोग हैं जो उस उत्तर को मन-ही-मन समझते भी हैं। किन्तु, इस उत्तर की अभिव्यक्ति जिस भाषा में की जाती है वह भाषा कहीं भी बहुत स्पष्ट नहीं है। हाँ, बाबा ने जो यह कहा कि कला का काम अध्यात्म और विज्ञान के बीच सेतु का निर्माण करना होगा, उसमें वे सभी उत्तर समाहित हो जाते हैं जिनकी कच्ची या पक्की अनुभूति सभी देशों के साहित्यकारों को होती रही है। भौतिक मूल्यों पर जोर देनेवाले देशों में भी कवि को अब यह एहसास होने लगा है कि मात्र फिजिकल की अनुभूति कवित्व नहीं है, कवित्व अब उन भावों की अनुभूति में है जो भूतरोत्तर अथवा मेटाफिजिकल भाव हैं।

रंगसाज़ी और चित्रकारी का महत्त्व कविता में भी है। किन्तु, श्रेष्ठ कविता कोरी रंगसाज़ी पर खत्म नहीं होती। कविताएँ दो प्रकार की होती हैं, एक अंधी और दूसरी पारदर्शिनी। अंधी कविता वह है जिसमें रंगों और चित्रों का सौन्दर्य तो है, किन्तु, झाँकने पर रंगों और चित्रों के परे कोई और चीज दिखायी नहीं देती। और पारदर्शिनी कविता वह है जिसके रंगों और चित्रों के नीचे भी कोई गहराई दिखायी पड़ती है, फूल का केवल दृश्य रूप ही नहीं, उसका कोई अदृश्य रूप भी आँखों के आगे आ जाता है। चीजों के भूतरोत्तर रूपों का चित्र आँकना, 'फिजिकल' में धँस कर 'मेटाफिजिकल' हो उठना तथा दृश्य और अदृश्य के बीच सेतु का निर्माण कर सकना, यह हमेशा से श्रेष्ठ कविता का लक्षण रहा है

और इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस युग में कविता की शक्ति पर सन्देह किया जा रहा हो, उस युग में कविता यदि अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा को प्राप्त करना चाहे तो उसे अपने श्रेष्ठतम गुणों का ही अधिकाधिक विकास करना होगा।

धर्म और दर्शन की तरह कविता भी अध्यात्म के अत्यन्त समीप की चीज है, वल्कि कहना चाहिए कि अध्यात्म दर्शन से दूर भी हो सकता है, किन्तु, सद्धर्म से वह कभी भी दूर नहीं होता। इसी प्रकार, अध्यात्म कविता से भी दूर नहीं है। संसार के बहुत-से बड़े कवि सन्त और बहुत-से सन्त महाकवि हुए हैं। फिर भी, कई सन्तों ने अथवा सन्तों का अनुसरण करनेवाले कितने ही लोगों ने खास-खास कवियों की निन्दा की है। और ऐसा भी हुआ है कि कई कवियों ने कृच्छ्र साधना की निन्दा की और कितने ही कलाकार आज भी यती-मार्ग के प्रति सहानुभूति नहीं रखते। सन्त पद्धतिवाले पंडितों का कहना है कि कवि जो रागों और वासनाओं को उभारते हैं, यह अच्छा काम नहीं है। और बहुत-से कवियों की शिकायत है कि कृच्छ्र साधना की शिक्षा निवृत्ति की शिक्षा है और निवृत्ति से जीवन आनन्दविहीन एवं अशक्त हो जाता है।

समझने की बात है कि कवि और सन्त के बीच का यह मतभेद आता कहाँ से है? मनुष्य का पूरा व्यक्तित्व, ऊपर नीचे के क्रम से, तीन भागों में बाँटा जा सकता है। सब से नीचे का धरातल जैव धरातल है। इस धरातल पर ही मनुष्य की पूरी समता पशुओं से बिठायी जा सकती है। पशु का स्वभाव है कि वह कोई भी ऐसा काम नहीं करता जो उपयोगी या आवश्यक नहीं हो। क्षुधा, सुरक्षा और काम, इन सहज प्रवृत्तियों से प्रेरित हो कर पशु उतना ही काम करते हैं जो अत्यन्त आवश्यक होता है। भय होने पर पशु निरापद स्थान में छिप जाते हैं, किन्तु, निराशा से घबरा कर वे आत्महत्या नहीं करते। अपने जैव धरातल पर मनुष्य भी केवल उन्हीं कर्मों को महत्त्व देता है जो आवश्यक और उपयोगी होते हैं। किन्तु, बहुत-से अनुपयोगी और अनावश्यक कृत्य भी हैं जिनसे आदमी परहेज नहीं करता। मसलन, वह आत्महत्या भी करता है, दूसरों के लिए अपनी जान भी देता है और वह बहुत-से ऐसे कर्म भी करता है जो केवल प्राण-रक्षा की दृष्टि से तनिक भी आवश्यक नहीं हैं। मनुष्य का काम, पशुओं के काम के समान, केवल प्रजनन तक सीमित नहीं रहता, न उसके आवास और पोशाक के प्रश्न केवल इस दृष्टि से हल किये जाते हैं कि आदमी धूप, वर्षा

और हिमपात से बच सके। धूप, वर्षा और हिमपात से बचने का सवाल बहुत ही छोटा सवाल है। अब तो आदमी के घर और पोशाक की समस्या, विशेषतः, उसकी सौन्दर्य-तृषा के समाधान की समस्या है। यह परिवर्तन क्यों हुआ? केवल इस कारण कि मनुष्य की चिंतन-शक्ति वही नहीं रही जो पशु-जगत में देखी जाती है। पशुओं में जो मन अत्यन्त सीमित है, वही मनुष्यों में आ कर अत्यन्त विस्तीर्ण और दुरूह हो गया है। यही मन मनुष्य के भीतर सौन्दर्य-भावना का विस्तार करता है, उसकी काम-भावना को ऋतु की मर्यादा से बाहर निकाल कर प्रेम की नयी-नयी लीलाओं की सृष्टि करता है और मनुष्य को अधिकाधिक उस दिशा की ओर प्रेरित करता है जिस दिशा का सारा सौन्दर्य, सारा आनन्द अनुपयोगी और उद्देश्यविहीन है।

मन की शक्ति बढ़ी, यह बहुत ठीक है। किन्तु, मन तो सोचने का यंत्र मात्र है। वह सोचने के क्रम में ऐसी बातें भी सोच जाता है जिनके परिणाम अच्छे नहीं होते। इसलिए, मनुष्य के भीतर सदसद्विवेक की शक्ति प्रकट हुई जिसे, प्रसंगानुसार, हम आत्मा, रूह, कांसेंस आदि कई नामों से पुकारते हैं। यह शक्ति मन को नियंत्रित करनेवाली शक्ति है। साहित्य का जन्म हमारे जैव धरातल पर होता है, क्योंकि काव्य के जो मूल-भाव हैं उनमें से कई (जैसे रति, उत्साह, क्रोध, घृणा) ऐसे हैं जो पशुओं में भी होते हैं। अतएव, साहित्य, अपने मूल-रूप में, हमारे जैव आवेगों का भाषागत विस्फोट होता है। किन्तु, साहित्य की शोभा यह है कि जैव धरातल पर जन्म ले कर वह उत्तरोत्तर आत्मा के धरातल की ओर उठता चले।

और धर्म का जन्म हमारे आत्मावाले धरातल पर होता है। किन्तु, धर्म की विजय आत्मा के धरातल से उतर कर जैव धरातल पर आने में है। अपने जैव धरातल पर हम जैसा आचरण करते हैं उसी से यह प्रकट होता है कि हमारे भीतर धर्म के भाव हैं या नहीं। धर्म आत्मा के कोठे पर और आचरण पशुओं के समान, यह अच्छे मनुष्य का लक्षण नहीं है। अच्छा मनुष्य वह है जिसकी कविता की जड़ जैवता में, किन्तु, उसकी फुनगी आत्मा के आकाश में हो। साथ ही, उसके धर्म का मूल अध्यात्म में, किन्तु, उसकी (धर्म की) अभिव्यक्ति दैनिक आचरणों की पवित्रता में होनी चाहिए। जिसने केवल जैव शक्तियों का विकास किया है, वह पशुओं के बहुत समीप है। जिसने केवल आत्मिक शक्ति की संवर्धना की है,

वह है तो देवोपम, फिर भी, उकठा काठ है। और जिसने केवल बौद्धिक शक्तियाँ ही बढ़ायी हैं, उसे 'रोबोट' या यंत्र-मनुष्य कहना चाहिए। सच्चा और पूरा मनुष्य तो वही होगा जिसमें इन तीनों शक्तियों का संतुलित एवं समन्वित विकास हुआ हो। और सभ्यता भी वही श्रेष्ठ है जिसके भीतर देह, मन और आत्मा, तीनों के सम्यक् विकास की व्यवस्था हो।

किन्तु, दुर्भाग्य की बात है कि ऐसे व्यक्ति जिनमें ये तीनों शक्तियाँ संतुलित हो कर बढ़ती हों, बहुत ही कम होते हैं। और साहित्य का दुर्भाग्य यह है कि यद्यपि प्रत्येक छात्र यही समझता है कि सत्यं, शिवं और सुन्दरं का समन्वय साहित्य है, फिर भी, ऐसा साहित्य बहुत कम लिखा जाता है जिसमें इन तीनों का सम्यक् समन्वय दिखायी देता हो। कारण यह है कि सत्यं, शिवं और सुन्दरं का समन्वय यदि जीवन में अलभ्य रहा तो वह साहित्य में कैसे सुलभ हो जायगा? कुनैन सत्य और शिव है, किन्तु, सुन्दर नहीं, क्योंकि चखने में वह तिक्त होती है। मृग-मरीचिका देखने में सुन्दर होती है, किन्तु, न तो वह सत्य है, न शिव। रोग सत्य होते हैं, किन्तु, उनमें शिवत्व और सौन्दर्य बिल्कुल नहीं होता। इन तीनों का समन्वय पहले जीवन में हो तभी वह साहित्य में उतर सकता है। साहित्य, अन्ततः, साहित्यकार की आत्मा का प्रस्वेद होता है। जीवन छोटा और साहित्य बड़ा, ऐसा दृष्टान्त न पहले देखा गया, न आगे देखा जायेगा। जिस ऊँचाई तक साहित्यकार की पहुँच नहीं, उस ऊँचाई पर साहित्य भी नहीं पहुँचेगा।

यह कसौटी साहित्य की सब से बड़ी कसौटी है और, इसीलिए, उस पर खरा उतरने वाले साहित्य का परिमाण हमेशा न्यून रहता है। टालस्टाय ने जिस कसौटी पर कस कर शेक्सपियर-समेत यूरोप के बड़े-से-बड़े लेखकों और कवियों की निन्दा कर डाली, वह इसी से मिलती-जुलती कसौटी थी। यदि उन्होंने भारत के कवियों की परीक्षा उसी कसौटी पर की होती, तो हिन्दी में तो, शायद, तुलसीदास और कबीर, ये दो ही कवि खरे उतरे होते। और तो और, सत्यं-शिवं-सुन्दरं की कसौटी पर स्वयं कालिदास का क्या हाल होता, यह टालस्टाय के कला-विषयक विवेचन से आसानी से समझा जा सकता है।

तो फिर कला का धर्म क्या होना चाहिए? जो कुछ भी अनुपयोगी अथवा नीति-विरुद्ध है, उसे टालस्टाय हेय मानते हैं। किन्तु, क्रोसे का कहना है कि कला की कृतियों से यदि समाज के आचार बिगड़ते हों तो यह उचित नहीं है कि

कलाकार की स्वाधीनता पर नियंत्रण की कड़ियाँ डाली जायँ, बल्कि, आवश्यक यह है कि समाज आचारण के बाँध को दुरुस्त रखने के लिए ज्यादा पुलिस, ज्यादा पहरेदार बहाल करे। यदि टालस्टाय एक छोर पर हैं तो मानना पड़ेगा कि यहाँ क्रोसे दूसरे छोर पर चले गये हैं, क्योंकि नैतिकता के असली पहरेदारों के नाम गाँधी, दयानन्द और टालस्टाय ही होते हैं, जिनकी संख्या समाज, अपनी इच्छा से, नहीं बढ़ा सकता।

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का मत था कि कला व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु, मनुष्य जब तक उपयोगिता के घेरे में कैद है, तब तक वह यह दावा नहीं कर सकता कि वह व्यक्तित्वशाली है। जहाँ तक उपयोगिता है, वहाँ तक आदमी और पशु में भेद गुण का नहीं, गणना का होता है। भैंस दूसरी भैंस को अपने खूँटे पर टिकने नहीं देती, यह पशु-स्वभाव है। यही स्वभाव मनुष्य में आ कर राष्ट्रवाद बन गया है। खान-पान, रहन-सहन और प्राण-रक्षा के निमित्त जागरूकता और संघर्ष, ये सभी उपयोगी कार्य हैं। अतएव, इन्हीं कार्यों तक सीमित रहनेवाले मनुष्य का व्यक्तित्व, यथार्थ में, मनुष्य का व्यक्तित्व नहीं है। मनुष्य के व्यक्तित्व का आरम्भ तब होता है जब आदमी जैव चिन्ताओं से छूट कर ऐसे आनन्द की खोज में निकलता है जो निरुद्देश्य है, जिसका जैव आवश्यकताओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। नारी की उपयोगिता उसके माँ, बहन या समाज-सेविका बनने में है। किन्तु, यह उसका व्यक्तित्व नहीं है। व्यक्तित्व उसका तब चमकता है जब वह अदा से चलती, बोलती या शृंगार करती है। फूलों से जब हम इत्र तैयार करते हैं, तब हम उपयोग के घेरे में होते हैं। किन्तु, मनुष्य का व्यक्तित्व हमारा तब उभरता है, जब हम फूलों के सौन्दर्य से चकित और मुग्ध हो उठते हैं। सिपाही का उपयोग युद्ध जीतने अथवा युद्ध में प्राण दे देने में है। किन्तु, यह उसका व्यक्तित्व नहीं है। व्यक्तित्व उसका तब दिखायी देता है, जब वह फौजी लिबास पहन कर बैंड के ताल पर कवायद करता है।

और यह भी सच है कि सिपाही यदि व्यक्तित्व सँवारने में ही ग़र्क हो जायँ तो देश हार जाय। किन्तु, व्यक्तित्वशाली देश अभी जीतते कहाँ हैं? भारतवर्ष का पतन इसलिए नहीं हुआ कि वह पशुओं का देश था, बल्कि, इसलिए कि पाशविकता से यह देश बहुत आगे निकल गया था। पिछले महायुद्ध में फ्रान्स ने आत्मरक्षा की

उतनी भी चेष्टा नहीं की जितनी एक चींटी करती है। कारण ? क्या यह कि फ्रान्स पाशविक था ? अथवा यह कि उसने सभ्यता जरा ज्यादा सीख ली थी ? तो हम करें क्या ? चूँकि कटहे जानवर अभी हैं, इसलिए, हम भी दाँत पजाते रहें ? यही वह अंधा सवाल है जिसकी चट्टान पर संस्कृति की नाव टकरा कर टूटती रही है। और इस अंधी समस्या का कोई भी एकांगी समाधान नहीं दिया जा सकता।

अपने देश के एक अन्य महाकवि,सर मोहम्मद इकबाल भी कला को व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मानते थे। किन्तु, व्यक्तित्व की परिभाषा उनकी और थी। उनका विचार था कि जो मनुष्य आराम की जिन्दगी बशर करता है, जो सुख-भोग के कारण निश्चेष्ट है, वह व्यक्तित्वशाली होने का दावा नहीं कर सकता। व्यक्तित्व का दावा तो वही कर सकता है जिसमें संघर्ष करने की उमंग और उत्साह है, जो क्षण-क्षण प्रकृति और अपने परिवेश पर हावी होने को युद्ध कर रहा है, जो अपने को अधिक-से-अधिक विकसित करके परमात्मा के समीप लिये जा रहा है और जिसकी हर साँस तनाव की स्थिति में चल रही है। हाफिज़ की गज़लें विश्व-साहित्य में आज भी आदर की दृष्टि से देखी जाती हैं। किन्तु, इकबाल को ये ग़ज़लें पसन्द नहीं थीं। उन्होंने अपने धर्मबन्धुओं को चेतावनी दी थी, "इन ग़ज़लों के पास से भागो, क्योंकि गुलाब के इन फूलों के भीतर साँप छिपा हुआ है।" टालस्टाय ने इकबाल की बातें सुनी होतीं तो अपनी बातों का जबर्दस्त समर्थन पा कर वे बहुत ही प्रसन्न हुए होते। यूरोप के कलाकारों पर टालस्टाय ने जैसा प्रहार किया, कुछ वैसा ही प्रहार इकबाल ने भारतीय कलाकारों पर किया है :—

इश्को-मस्ती का जनाज़ा है तखैयुल इनका।
इनके अन्देशये तारीक़ में कौमों के मज़ार।
मौत की नक्शगरी इनके सनमखानों में,
जिन्दगी से हुनर इन बरहमनों का बेज़ार।
चश्मे-आदम से छिपाते हैं मुकामाते बलन्द,
करते हैं रूह को खाबीदा, बदन को बेदार।
हिन्द के शायरो - सूरतगरो - अफ़सानानबीस ?
आह ! बेचारों के आसाब पर औरत है सवार !

उर्दू में एक काना-फूसी चलती थी कि इकबाल कवि नहीं, उपदेशक हैं। और इकबाल ने खुद भी एकाध जगह स्वीकार किया है कि हाँ, मैं लोगों का मनोरंजन करने को नहीं, उन्हें सबल बनाने को लिखता हूँ। इसी प्रकार, टालस्टाय के मत का भी खंडन बहुत-से चिंतकों ने किया है। फिर भी, टालस्टाय ने कला की स्वतंत्रता के विरुद्ध जो दलीलें दीं वे ठीक से कटी हैं या नहीं, नहीं कहा जा सकता।

पण्डित कभी-कभी इतिहास को भूल कर चलना चाहता है, किन्तु, इतिहास अपने आपको विस्मृत होन नहीं देता। असल में, दुनिया को सम अवस्था में रहने की आदत ही नहीं है। एक बार जब लोग यह कहने लगे कि कला का काम जीवन का सुधार और नैतिकता की रक्षा करना है, तब कला की ओर से बोलने वालों ने 'कला के लिए कला' का नारा लगाना आरम्भ किया। और जब कला की स्वतंत्रता फिर घनघोर हो उठी, तब टालस्टाय ने उसे लगाम पहनाने की कोशिश की। आज के कलाकार इसी लगाम से चौंके हुए हैं। टालस्टाय ईश्वरवादी और अदृश्य वास्तविकता में विश्वास करने वाले थे, यह ठीक है। किन्तु, जिस सिद्धान्त पर उन्होंने साहित्य को नियंत्रित करने की इच्छा प्रकट की, उसी सिद्धान्त पर साहित्य का साम्यवादी अथवा अधिनायकवादी नियंत्रण भी सही सिद्ध होता है।

आखिर, रूस की सरकार साहित्य का उपयोग समाजवाद के लिए ही तो करना चाहती है? और समाजवाद में दोष क्या है? मार्शल ज़ुकोव ने एक बार आइसन हावर से कहा था कि धर्म तो समाजवादी देशों के ही साथ है। आपने अपने यहाँ व्यक्तियों को यह छूट दे रखी है कि वे दूसरों से छीना-झपटी करें और, जैसे भी हो, अपने वैयक्तिक सुखों में वृद्धि लायें। किन्तु, हम रूस में यह कहते हैं कि वैयक्तिक सुख कोई कीमत नहीं रखता। सुख तो सारे समाज को चाहिए। इसलिए, हम तुम्हें यह स्वतंत्रता नहीं दे सकते कि दूसरों को लूट कर अपनी वैयक्तिक संपत्ति बढ़ाओ। गुंथर ने लिखा है कि ज़ुकोव की इस दलील का आइसन हावर से कोई जवाब नहीं चला। तो फिर स्टालिन की ही हम यह कह कर निन्दा क्यों करें कि वह समाजवाद की स्थापना और रक्षा के लिए साहित्य का नियंत्रण करता था?

जो बुद्धि टालस्टाय के सिद्धान्त को सही समझती है, उसकी समझ में स्टालिन का भी दर्शन आ सकता है। फ़र्क सिर्फ इतना रह जाता है कि टालस्टाय सन्त थे

और स्टालिन ने हिंसा का अतिरेक कर दिया। किन्तु, नियंत्रण किसी भी भाव से किया जाय, उससे साहित्य का गौरव घटता है और मनुष्यता ऐसे अनेक विचारों से वंचित रह जाती है जो, उपयोगी न होने पर भी, मनुष्य को निर्मल और विशुद्ध आनन्द देते हैं। बोरिस पास्तरनेक विश्वास से तो समाजवादी ही हैं, फिर भी, उनकी अवहेलना और उनके साहित्य का दलन इसलिए संभव हो गया कि रूस में साहित्य के नियंत्रण का सिद्धान्त प्रचलित है।

साहित्य की समस्या मनुष्य की अन्य समस्याओं से भिन्न नहीं है। अहिंसा की ओर यात्रा करनेवाली मनुष्यता अभी हिंसा से मुक्त नहीं हो पायी है। अपरिग्रह की ओर चलनेवाला मनुष्य अभी लोभ से पिछलता चल रहा है। प्रेम और काम आपस में कौन-सा सम्बन्ध स्थापित करेंगे, अभी इसका कोई नक्शा साफ नहीं है। इसी प्रकार, साहित्य भी कभी अनैतिक हो कर लोकप्रिय हो उठता है। यह केवल कवि और लेखक की रुचि का प्रश्न नहीं, पत्युत्, समग्र मानवता की रुचि का सवाल है। कवि की कविता कवि के समान होती है। मनुष्य जाति का साहित्य भी उसी की रुचि के अनुरूप होगा। उपयोगी चिंतन और स्वतंत्र चिंतन में से, मूल्य की दृष्टि से देखें तो, स्वतंत्र चिन्तन ही महार्घ है। आविष्कार बहुधा आकस्मिक रूप से आते हैं। साहित्य में भी अभिनव विचार बिजली की तरह, सहसा ही, कौंध कर प्रकट हो जाते हैं। और यह सब इसलिए होता है कि सोचनेवाली बुद्धि स्वाधीन है।

नियंत्रण अगर आवश्यक है तो वह स्वयं लेखक की आत्मा से आयेगा। बाहर का कोई भी नियंत्रण, भले वह राजनीतिक नहीं हो, साहित्य के लिए हितकर कम होता है। नियंत्रित समाज में उत्पन्न होनेवाले कवि बोरिस पास्तरनेक ने लिखा है कि मनुष्य का सुधार अगर कोड़ों से किया जा सकता तो मनुष्यता के असली नेता वे लोग होते जो सरकस में शेर नचाते हैं। किन्तु, यह बात नहीं है। मनुष्य का सुधार तब होता है जब उसकी आत्मा में संगीत जागता है। इसीलिए, मनुष्यता के सच्चे नेता वे हैं जो कष्ट सह कर आगे बढ़ते हैं, जो अपने आचरणों का उदाहरण उपस्थित करके लोगों के भीतर सोये हुए संगीत को जाग्रत कर देते हैं।

सोया हुआ संगीत केवल उन्हीं का नहीं होता जो पाठक हैं। संगीत की अनेक रागिनियाँ अभी कवियों के भीतर भी नींद में हैं। और वे कोड़े से

जगायी नहीं जा सकतीं। कुछ रागिनियों को कवि स्वयं जगायेंगे और कुछ तब जगेंगी जब काल देवता उन्हें सुनना चाहेंगे* ।

---

* नवम्बर १९५९ ई० में अमृतसर में आचार्य विनोबा भावे के सान्निध्य में आयोजित अखिल भारतीय साहित्य-परिषद् में दिया गया भाषण।

खाँटी कला

कला के विषय में अब एक विचित्र प्रकार की चर्चा सुनायी देने लगी है। कविता में अगर समाज-संबन्धी विचारों का समावेश हुआ तो बहुत-से लोग यह कह बैठते हैं कि सामाजिक विचार ही पढ़ना है तो फिर हम कविता क्यों पढ़ें, समाज-शास्त्र ही पढ़ लेंगे ; अगर दार्शनिक विचारों की झलक मिली तो कह देते हैं, दर्शन ही जानना है तो हम दार्शनिकों का ही निबन्ध पढ़ेंगे। दर्शन के लिए कविता पढ़ना फिजूल है।

लेकिन, जब कविता की सत्ता सिद्ध करने की बात आती है, तब ये ही आलोचक उसका संबन्ध सामाजिक तत्वों से जोड़ने लगते हैं, उस कविता में दर्शन के विचार दिखलाने लगते हैं। इलियट की कविताओं की सार्थकता यह कह कर सिद्ध की जाती है कि उनमें समकालीन विषण्ण मन:स्थितियों की झाँकी है और सार्त्र के "एज आव रीजन" की विज्ञप्ति यह कह कर की गयी है कि इस उपन्यास में अस्तित्ववादी दर्शन के विचार हैं। मगर, मैंने जब यह उपन्यास पढ़ा, मुझे दर्शन के विचार तो छिटपुट ही मिले, हाँ, यौन संबन्धों के नंगे चित्र बहुत अधिक दिखायी दिये।

मेरा ख्याल है कि धर्म पर बोलना आसान है, कला पर बोलना अत्यंत कठिन है। कला पर राय देना उन्हीं लोगों को शोभा देता है जिन्होंने अनेक विद्याओं का अभ्यास किया है, जो जीवन की एक ही दिशा में टकटकी लगा कर खड़े नहीं रहे हैं, बल्कि, उसकी अनेक दिशाओं की ओर देखा है ; और, सब से बढ़ कर, जिनका हृदय पक्षपातरहित और बुद्धि अत्यंत शीतल और परिपक्व है। मैं अपने भीतर इन गुणों का प्राचुर्य नहीं पाता। फिर भी, एक शंका है जो मुझे आजीवन सताती रही है और जिसे ले कर मैं कला पर एकांगी मत देनेवालों को बराबर आश्चर्य से देखता रहा हूँ।

यह क्या बात है कि लोग कला का शुद्ध रूप वहीं देखते हैं जहाँ नारी की नग्नता का बखान हो, अलक, उरोज और जघनों के वर्णन में चातुरी दिखायी गयी हो अथवा जहाँ रहस्यवाद के अनुकरण का बौद्धिक प्रयास हो ? अन्न की क्षुधा की आग का वर्णन प्रचार समझा जाता है और काम की क्षुधा का वर्णन

विशुद्ध कला, इस विसंगति का समाधान मुझे आज तक नहीं मिला। कला दोनों ही क्षुधाओं के वर्णन में हो सकती है या संभव है कि, कला के स्पर्श के अभाव में, दोनों ही प्रकार के वर्णन अकलात्मक रह जायँ। तब भी, जो चिंतक दुराग्रह-पूर्वक यह मान कर चलता है कि कला मात्र काम की बारीकियों की छान-बीन में निखरती है, मेरा ख्याल है, वह बुद्धि के विनोद में है। आभिजात्य कभी-कभी पतनशीलता से प्रेम करता है। ऐसे सभी लोग बौद्धिक आभिजात्य के इसी रोग के शिकार हैं।

इस विषय में एक बात और है जिसे मैं अर्थपूर्ण समझता हूँ। जैसे कलावादी लेखकों की रचनाओं की सार्थकता यह कह कर सिद्ध की जाती है कि वे समाज की अनुभूतियों से अविच्छिन्न हैं, वैसे ही, विचारों में खलबली मचानेवाली पुस्तकों के बारे में बराबर यह कहा जाता है कि उनमें कला के गुणों का भरपूर समावेश है। रवीन्द्र और शरत्‌चंद्र को आगे करके हम यह नहीं कहते कि ये संघर्ष-निरत भारत के कलाकार हैं, किन्तु, प्रेमचंद को संसार के सामने हम इसी रूप में रखते हैं और संसार हमारे इस कथन का विश्वास भी करता है। फिर भी, रवीन्द्र और शरत् की सार्थकता मात्र उनकी तूलियों के चमत्कार में नहीं है। वे भी भारतीय समाज की अनुभूतियों के चितेरे हैं। और प्रेमचद क्या केवल किसानों के पक्ष में व्याख्यान दे कर इतना बड़ा पद पा सकते थे? यह गौरव उन्हें इसलिए प्राप्त हुआ कि वे कलाकार थे और अनुभूतियों को उस प्रकार उपस्थित करने की शक्ति उन्हें प्राप्त थी जिस प्रकार अनुभूतियाँ कलाकार के द्वारा उपस्थित की जाती हैं।

प्रेमचंद ने कई स्थानों पर यह सूचित किया है कि कला का सामाजिक उद्देश्य होना चाहिए तथा "और चीजों की तरह मैं कला को भी उपयोगिता की तुला पर तौलता हूँ।" किन्तु, उन्होंने यह भी कहा है कि "कला के लिए कला के सिद्धान्त पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती "और" साहित्य का सब से ऊँचा आदर्श यह है कि उसकी रचना केवल कला की पूर्त्ति के लिए की जाय।" और यह भी कि "साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है, उसका दरजा इतना न गिराइये। वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलनेवाली इकाई नहीं, उसके आगे चलने वाली सचाई है।"

एकाध पण्डित का यह मत है कि प्रेमचंद के कला-विषयक विचार अस्वच्छ थे, अतएव, कला के बारे में प्रमाण उनके विचार नहीं, बल्कि, उनका साहित्य

है जो "कला के लिए कला" वाले सिद्धान्त का खंडन करता है। किन्तु, मुझे प्रेमचंद का साहित्य और उनके विचार, दोनों ही, प्रिय हैं, और मेरा ख्याल है, उनकी रचना और विवेचना में कोई विरोध नहीं है। रामचरितमानस का कोई उद्देश्य है या नहीं ? ज्यादा लोग कहेंगे कि है। किन्तु, तुलसीदास जी ने इस ग्रन्थ की रचना उस उद्देश्य के प्रचार के निमित्त नहीं, बल्कि, स्वान्तःसुखाय (यानी कला के लिए कला वाले सिद्धान्त के अधीन) की थी।

कला का उद्देश्य ज्ञान है या आनन्द, यह प्रश्न संसार के चिंतकों के सामने सदियों से टँगा रहा है और सदियों से एकांगी विचार रखनेवाले चिंतक उन कवियों से हारते रहे हैं जो उनकी कसौटी पर कवि नहीं हो सकते थे, किन्तु, सारे समाज ने जिन्हें कवि मान लिया। जो लोग यह मानते हैं कि विचारों के समावेश से कला दूषित हो जाती है, उनका तुलसी, कबीर और इकबाल अथवा प्रेमचंद के समक्ष जाकर कितना-सा मुँह रह जाता है ? और जो लोग यह हठ पकड़े हुए हैं कि विचारों के गांभीर्य के अभाव में कला अशक्त हो जाती है, वे विद्यापति और बिहारीलाल के सामने पहुँच कर अपनी पराजय कहाँ छिपायेंगे ?

आदमी कलाकार उतनी ही देर है जितनी देर वह कला की रचना में लगा हुआ है। रचना से छूट कर विवेचना में पड़ते ही वह कुछ-न-कुछ राजनीति करने लगता है अथवा यों कहें कि अनजाने वह राजनीति की पकड़ में चला जाता है। यों भी, विवेचना बुद्धि की प्रक्रिया है और बुद्धि विश्लेषण में दक्ष होती है। जो विश्लेषण का प्रेमी है उसे अपने पक्ष की सिद्धि के लिए तर्क चाहिए और तर्क सदा न्यायसंगत ही नहीं होता। इसके विपरीत, हृदय की प्रक्रिया संश्लेषण की प्रक्रिया है, एकता की प्रक्रिया है। इसीलिए, कला संश्लेषणात्मक शक्ति है, समन्वय की साधिका है। जीवन-विटपी की शाखाएँ अनेक दिशाओं में फैली हुई हैं। ये अनेक शाखाएँ अनेक विद्याएँ हैं, अनेक ज्ञान हैं, अनेक क्रियाक्षेत्र हैं, लेकिन, कला इन डालों पर नहीं बैठती। वह तो इस महावृक्ष के मूल में निवास करती है। जो लोग कला को जीवन की डालों पर बसनेवाली चीज समझते हैं, वे ही यह कहा करते हैं कि कला केवल विचार में अथवा मात्र सौन्दर्य में निवास करती है। किन्तु, जिनकी दृष्टि जीवन के मूल पर पड़ती है, उन्हें ऐसा भ्रम नहीं सताता। वे जानते हैं कि कला सर्वव्यापिनी महत्तम शक्ति है जिसका आधार बुद्धि नहीं, संबुद्धि है ; जिसके वृत्त में संसार के सभी ज्ञान, सभी क्रियाएँ

आ जाती हैं, जो अध्यात्म और विज्ञान, दोनों के बीच महासेतु का निर्माण करती है। इसीलिए, कला की सृष्टि करना और कला पर बोलना, इनमें से कोई भी काम आसान नहीं है।

शायरी वह नहीं जिससे कोई लड़का खेले,
मिसरा तो कुछ नहीं है, फ़क़त ठूँस-ठाँस है।

कला पर बोलते हुए जो लोग ज्ञान का समर्थन और क्रिया का विरोध करते हैं, सुन्दरं की बड़ाई और शिवं की उपेक्षा करते हैं अथवा भावों के विरुद्ध आँख मूँद कर भाषा का और विचारों के विरुद्ध मात्र चित्रों का पक्ष लेते हैं, वे, स्पष्ट ही, एकांगी हो कर बोल रहे हैं। कला का अंचल इतना छोटा नहीं है। जिसमें तर्कशक्ति और कल्पना नहीं है, नैतिकता भी उसकी कमजोर होती है। और जिसमें कवित्व नहीं, न सदसद्विवेक की सूक्ष्मता और दृढ़ता है वह दर्शन क्या खा कर रचेगा? मनुष्य के सभी गुणों के भीतर जो एक प्रकार की एकता है, मनुष्य की सारी चेष्टाएँ उसी एकता से शक्ति ग्रहण करती हैं। कला का काम इस एकता को तोड़ना नहीं, उसे दृढ़ बनाये रखना है। इसीलिए, कवि और कलाकार बनने से पूर्व यह आवश्यक है कि मनुष्य विचारों में सुस्नात हो और नैतिक संघर्षों का सामना करके उसने अपनी आध्यात्मिक शक्तियों को पुष्ट बना लिया हो।

रक्तहीनता को सौन्दर्य मान लेना सनकी को ही शोभा देता है। रक्तहीनता सौन्दर्य नहीं, रोग है। इसी प्रकार, काव्य में अस्पष्टता बड़ाई नहीं, निन्दा की चीज है। कला की विजय भावों को अस्पष्टता से लिखने में नहीं, उसे सुस्पष्टता प्रदान करने में है। अस्पष्ट तो भाव तब होते हैं जब वे मनःआकाश में धुआँते रहते हैं। कविता तो उन्हें रूप और लय की भाषा में बाँधने का काम है। कला के लिए कला का विरोध तो मैं भी नहीं करता। किन्तु, निस्पन्दता को स्पन्दन और मृत्यु को जीवन कहना कला के लिए कला की उपासना नहीं होती। मानता हूँ कि पक्षी जब गाता है तब वह गान केवल गान के लिए होता है। किन्तु, तब भी गीतमग्न पक्षी के स्वर में उसका सारा जीवन होता है, उसका पूरा अस्तित्व होता है, उसकी आवश्यकता, उसकी जन्मजात प्रवृत्ति और उसका सारा स्वभाव होता है। तो फिर कविता करनेवालों को भी कवि और मनुष्य एक साथ होना

चाहिए। उखड़ा, छिछला और कमज़ोर आदमी कभी बड़ा कलाकार हुआ हो, इसका उदाहरण साहित्य के इतिहास में नहीं है। न इसी बात का उदाहरण मिलता है कि लोग कला की भूमि पर कभी हूणों के समान लाठी बाँध कर चढ़ आये हों और वे कलाकार मान लिये गये हों। जो फौज साज कर आता है वह कलाकार नहीं, कोई और प्राणी है जो, कलाकार न होते हुए भी, कलाकार होने की कीर्त्ति खोज रहा है।

पहले तो कला ज्ञान और आनन्द, दोनों का ही माध्यम मानी जाती थी, किन्तु, १८ वीं-१९ वीं सदी में जब लोग यह कहने लगे कि साहित्य का एक मात्र ध्येय कान्तासम्मित उपदेशों का दान है, तब कला की प्रतिष्ठा की रक्षा के निमित्त कलावादियों को यह कहना पड़ा कि नहीं, कला दर्शन, नैतिकता, या राजनीति की दासी नहीं है; वह अपने आप में पूर्ण है और वह मात्र अपने लिए है। किन्तु, उस समय भी कलावादियों ने यह नहीं कहा कि कला का समाज से, समाज की समस्याओं से कोई संबंध नहीं है अथवा जो कलाकार है उसे दर्शन, राजनीति और नैतिकता से कोई सरोकार नहीं रखना चाहिए।

प्रेमचंद जब यह कहते हैं कि कला के लिए कला वाले सिद्धान्त से उनका कोई विरोध नहीं है, तब इसका अभिप्राय केवल यह होता है कि वे भी कला का चरम महत्त्व स्वान्त:सुख को ही मानते हैं। कविता, कहानी, नाटक और उपन्यास, इनकी रचना का मूल उनके रचयिता कलाकार का आनन्द है। यह आनन्द उसे नहीं मिले तो धन, सुयश अथवा देशोद्धार के लिए साहित्य लिख कौन सकता है? और जिसे प्रेमचंदजी उपयोग कहते हैं, वह कला का परिणाम है। क्योंकि कला का उद्देश्य न होने पर भी उसका परिणाम तो होता ही है। और देश-भक्ति तथा राजनीति की पथ-प्रदर्शिका कह कर प्रेमचंदजी ने कला की स्वाधीनता की रक्षा की है। जो भी लेखक मनुष्य की स्वाधीनता का कामी है, वह कला की "आटोनोमी" के लिए अवश्य लड़ेगा।

किन्तु, अब जो खाँटी कला का सिद्धान्त निकला है, वह "कला के लिए कला" वाले सिद्धान्त से बहुत दूर है। तुलसीदास और प्रेमचंद कला की सफलता उससे मिलने वाले आनन्द में मानते हैं और वह आनन्द उन्हें राम के लोक मंगलकारी चरित्र के गान में भी मिलता है और होरी की विपत्तियों के बखान में भी। किन्तु, खाँटी कला वाले लोग विचारों से भागते हैं, ज्ञान से बच कर निकलना चाहते हैं

और अपना काम वे इस भाव से करना चाहते हैं, मानों, नैतिकता से उनकी कभी की भी मुलाकात नहीं हो। टूटी-फूटी संवेदनाओं और बिखरी-बिखरी अनुभूतियों के चित्रण में भी कारीगरी तो है, किन्तु, जब तक उनमें संग्रथन और एकता नहीं दिखायी देती, वे जीवन से दूर रह जाती हैं।

जिस "कला के लिए कला" से प्रेमचंद को विरोध नहीं था वह कला संघर्षों में पिल पड़ने की कला थी, समाज की वेदनाओं को चित्रित करने की कला थी। किन्तु, खाँटी कलावाले लोग कहते हैं कि कविता के शब्द सार्थक नहीं, केवल ध्वनि मात्र होते हैं और साहित्य की सार्थकता उसके जीवन्त होने में नहीं, सौन्दर्यपूर्ण होने में है। यह भी कि विचारों के प्रवेश से कला की पवित्रता नष्ट होती है और नैतिकता का ध्यान रखने से कला खाँटी नहीं रह पाती। लोग पवित्रता की शर्तों की अवहेलना करके ऐसी कला का सृजन करने में लगे हैं जो पूर्णरूप से पवित्र हो। यानी जमीन, जड़, धड़, टहनी और पत्तों के बिना ही वे फूल लोढ़ने को बेचैन हैं।

दिल छोड़ कर जबान के
पहलू में आ पड़े,
हम लोग शायरी से
बहुत दूर जा पड़े।

सन् १९६० ई०}

महाकाव्य में सत्य और कल्पना

संसार में ऐसे बहुत-से महाकाव्य हैं जो ऐतिहासिक घटनाओं पर लिखे गये हैं, बल्कि, कहना यह चाहिए कि जब उपन्यास का माध्यम नहीं निकला था, महाकाव्य, लगभग सदैव, ऐतिहासिक घटनाओं पर ही लिखे जाते थे। और इन काव्यों का सारा महत्त्व मात्र काव्यात्मक ही नहीं था; अक्सर, विद्वान् उन्हें ऐतिहासिक प्रमाण के रूप में भी उद्धृत करते थे। रामचन्द्र का इतिहास लिखते समय वाल्मीकि के उद्धरणों के बिना काम नहीं चलता, न पृथ्वीराज चौहान का इतिहास रासो का हवाला दिये बिना पूर्ण समझा जाता है। फिर भी, रामचन्द्र और पृथ्वीराज के बारे में लिखा गया इतिहास है और कविता कविता। ऐसा क्यों होता है, इसे समझने के लिए हम इतिहास और काव्य के भेद को समझने का प्रयास करेंगे।

कविता का प्रतिलोम गद्य नहीं, विज्ञान है, क्योंकि विज्ञान में कल्पना के लिए स्थान नहीं होता। वैज्ञानिक कोई भी ऐसा शब्द नहीं लिखता जिसका एक से अधिक अर्थ हो, न वह विषयों का निरूपण आवेश में करता है। यदि वह आवेश में आ जाय तो श्रोता उसकी स्थापनाओं पर शंका करने लगेगा। किन्तु, कवि की वाणी आवेश की वाणी होती है, उसके द्वारा प्रयुक्त शब्दों के, प्रसंगानुसार, एक से अधिक अर्थ होते हैं और उसकी भाषा भी कल्पना से अनुप्राणित होती है।

काव्य और इतिहास में सब से बड़ा भेद यह है कि कविता कहीं भी विज्ञान के समान दिखायी नहीं देती*, किन्तु, इतिहास कभी विज्ञान भी होता है और कभी उसे देख कर यह भ्रम भी होने लगता है कि, हो न हो, यह विज्ञान नहीं, कला है। पक्के अनुसन्धान का सारा कार्य, अत्यंत सही अर्थों में, विज्ञान का कार्य है, क्योंकि प्राचीन काल का कोई सिक्का, कोई ठीकरा या कोई बरतन या पोशाक मिल जाने पर, अनुसन्धानी पंडित उनकी व्याख्या मनमाने ढंग पर नहीं कर सकता। यदि वह ईमानदार है तो वह ठीक उतनी ही बातें लिखेगा जितनी

---

* अलबत्ते, अब यूरोप में यह प्रथा निकली है कि कविता में जहाँ यथातथ्य वर्णन प्रधान हो, वहाँ आलोचक कह उठता है, विज्ञान इससे अधिक यथातथ्यता नहीं दिखा सकता था।

उन वस्तुओं से, वैज्ञानिक रूप से, जानी जा सकती हैं। महंजोदड़ो की सभ्यता किस जाति की सभ्यता थी, यह हम अब तक भी नहीं जान सके हैं, क्योंकि महंजोदड़ो के सिक्के अब तक पढ़े ही नहीं गये। काम तो यह इतिहास का ही है, किन्तु, इसे हम विज्ञान भी कह सकते हैं। विज्ञान सदैव सत्य होता है। जो बात अभी परीक्षण के क्रम में है, जिसके बारे में अभी शंका या सन्देह है, वह विज्ञान की बात नहीं कही जा सकती।

किन्तु, वैज्ञानिक अनुसन्धानों से उपलब्ध सामग्रियों में प्रवेश करके जब कोई लेखक किसी युग-विशेष का चित्र प्रस्तुत करने लगता है, तब कोरी वैज्ञानिक विधियों से उसका काम नहीं चलता। वह कल्पना का आश्रय लेने को विवश हो जाता है। वैज्ञानिक अनुसन्धान, जो सभी इतिहासों का आधार है, अपने आप में नीरस, कठोर और निर्जीव होता है। उसे सुन्दर, सरस और सजीव चित्रों में सजा कर जनता तक पहुँचाने के लिए कल्पना का प्रयोग आवश्यक हो जाता है।

सुन्दर, सरस और सजीव चित्रों का निर्माण, वैसे तो, कला के निर्माण-जैसा ही दीखता है, किन्तु, इतिहासकार को कलाकार कहने का रिवाज़ नहीं है और, सच पूछिये तो, कलाकार वह होता भी नहीं। कलाकार वह है जो शैली और विषय में भेद नहीं करता। कलाकार के मन में आनेवाली कलाकृति की अवधारणा, आरंभ से ही, भाव और भाषा, विषय और शैली, कथ्य और कथन को एकाकार किये होती है। किन्तु, इतिहासकार की नीति इससे भिन्न होती है। अनुसन्धान के परिणामों को पढ़ कर पहले तो वह अपने मन में युग-विशेष के सम्बन्ध में अपनी धारणा बनाता है और तब, उसे प्रभावोत्पादक ढंग से कहने के लिए, अनुरूप भाषा की खोज करता है। इसीलिए, अच्छे-से-अच्छे इतिहासकारों में भी कला गौण और कथ्य प्रमुख रहता है। और गौण कला कला नहीं, कारीगरी का पर्याय है। इसलिए, गिब्बन, कारलाइल और जायसवाल को भी हम कलाकार नहीं, केवल साहित्यिक कारीगर कह सकते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि इतिहासकार अपनी कला को गौण क्यों होने देता है? क्यों नहीं वह भी कला को उसी भाँति प्रधान कर देता है जैसे वह शेक्सपियर, कालिदास और तुलसीदास में प्रधान है? उत्तर स्पष्ट है कि कवि और इतिहासकार के उद्देश्य भिन्न होते हैं। कवि की दिलचस्पी घटना-विशेष में न हो कर

मनुष्यमात्र के संपूर्ण इतिहास, उसकी समग्र नियति में होती है। इसलिए, वह एक घटना के दीपक के द्वारा अनेक घटनाओं के रहस्यों को देखता है, एक मनुष्य की नियति के द्वारा सभी मनुष्यों की नियति पर विचार करता है। किन्तु, इतिहासकार की सारी दिलचस्पी घटना-विशेष तक सीमित रहती है, व्यक्ति-विशेष के आचरणों से बँधी रहती है। एक युग के भीतर से सभी युगों को छूने का काम, एक घटना के माध्यम से मनुष्य की सम्पूर्ण नियति तक जाने की क्रिया ऐसी है जिसमें तथ्य कम, कल्पना बहुत अधिक सहायता करती है। इसलिए, कल्पना कवि का सर्वस्व है। इतिहासकार उसका उपयोग केवल अनिवार्यता से, और वह भी, सीमित क्षेत्र में करता है।

इतिहासकार, चाहे भी तो, जो काम कवि करता है, उसे वह, इतिहास को संदिग्ध बनाये बिना, पूरी सफलता के साथ नहीं कर सकता। घटनाओं और व्यक्तियों से बँधे रहने के कारण वह मानवता की सम्पूर्ण नियति के दरवाज़े तक उस आसानी से नहीं जा सकता, जिस आसानी से वहाँ तक कवि पहुँच जाता है। कह सकते हैं कि मनुष्य के हृदय और मस्तिष्क का संधान कवि टार्च के सहारे करता है और इतिहासकार सूर्य के उन्मुक्त प्रकाश में। सूर्य प्रकृति का महान् सत्य है और टार्च मनुष्य की निर्मिति। किन्तु, मानव-मन में ऐसी अनेक कन्दराएँ हैं जहाँ सूर्य की किरणें नहीं जा सकतीं। इसीलिए, कवि टार्च का प्रयोग करता है। टार्च, असल में, उसकी कल्पना-शक्ति है और यह शक्ति सूर्य से श्रेष्ठ है, क्योंकि उसे हम जहाँ भी चाहें, ले जा सकते हैं।

इतिहासलेखक और कलाकार के बीच एक यह भी भेद है कि इतिहास-लेखक यदि कला की ऊँचाई तक उठ भी जाय तो प्राचीन युग के मृत कंकाल को जीवित बनाने के सिवा वह कुछ और नहीं कर सकता। अतीत से आगे बढ़ कर वर्त्तमान को छूने का अधिकार उसे सुलभ नहीं। किन्तु, कवि जब किसी प्राचीन कथा को उठाता है, तब भी, उसका ध्येय अतीत को जीवित करना नहीं, वर्त्तमान को ही उद्भासित करना होता है।

अपने देश में रामकथा को ले कर काव्यसृजन की परिपाटी, और नहीं तो, तीन-साढ़े-तीन हज़ार वर्षों से विद्यमान रही है। और इस बीच जो भी सफल काव्य लिखे गये, उनमें से प्रत्येक अतीत नहीं, अपने विशिष्ट वर्त्तमान का ही प्रतिनिधि रहा था। रघुवंश में कालिदास की दृष्टि त्रेता पर कम, अपने समय

पर अधिक है। और उत्तर रामचरित के राम वे ही नहीं हैं जो वाल्मीकि के राम हैं। वाल्मीकि के राम ने शूद्र मुनि शंबूक का वध करके तनिक भी पश्चात्ताप नहीं किया। किन्तु, उत्तर रामचरित के राम जब शंबूक का वध करने को जाते हैं तब समाधिस्थ शूद्र मुनि पर उनका हाथ नहीं उठता और वे अपने आपको यह कह कर धिक्कारते हैं कि "ओ मेरे दाहिने हाथ! मृत ब्राह्मण-पुत्र को जिलाने के लिए इस शूद्र मुनि पर निःशंक हो कर खड्ग उठा। तू ने तो छलपूर्वक गर्भिणी सीता का परित्याग किया है। तुझ में यह करुणा कहाँ से आ गयी?"

रे हस्त दक्षिण! मृतस्य शिशोर्द्विजस्य जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम्,
रामस्य बाहुरसि निर्भरगर्भखिन्नसीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते?

वाल्मीकि के समय तपस्वी शूद्र को दण्ड देना उपयुक्त कर्म समझा जाता था। अतएव, शंबूक-वध को ले कर द्विधा न तो वाल्मीकि के मन में उठी, न राम के मन में। किन्तु, वाल्मीकि और भवभूति के बीच की लंबी अवधि में बुद्ध और महावीर ने मिल कर भारत के हृदय और मन का जो विपुल मन्थन किया, उसके परिणाम-स्वरूप, सीता-परित्याग और शंबूक-वध, राम के ये दो कृत्य जनता की दृष्टि में चिंत्य हो उठे। युग की इसी शंका को भवभूति ने राम के मुख में डाल दिया।

इसी प्रकार, तुलसी का रामचरितमानस भी मात्र अतीत को जीवित करने का प्रयास नहीं है। उसकी एक नवीनता तो यही है कि तुलसीदासजी ने लव-कुश कांड को छुआ ही नहीं, जिसमें सीता-त्याग और शंबूक-वध की कथाएँ आती हैं। तुलसीदास का कलिकाल-वर्णन भी उनके अपने समय का वर्णन है और जिसके लिए उन्होंने अधिक-से-अधिक उत्साह दिखाया, वह सगुणोपासना तो, स्पष्ट ही, तुलसीयुगीन भारत की सब से प्रबल प्रवृत्ति थी।

तुलसी के बाद विरचित रामकाव्यों में सब से प्रसिद्ध ग्रन्थ साकेत है। किन्तु, साकेत भी अतीत नहीं, वर्त्तमान युग का ही काव्य है। साकेत के राम स्वामी दयानन्द के अनुयायी-जैसे लगते हैं। स्वामीजी ने "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" का नारा दिया था। लगता है, वही नारा साकेत के राम ने पकड़ लिया, क्योंकि वे बड़े ही उत्साह से कहते हैं,

मैं आर्यों का आदर्श बताने आया,
जन-सम्मुख धन को तुच्छ जताने आया।

उच्चारित होती चले वेद की वाणी,
गूँजे गिरि-कानन-सिन्धु-पार कल्याणी।
अम्बर में पावन होम-धूम घहरावे,
वसुधा का हरा दुकूल भरा लहरावे।

किन्तु, वाल्मीकि या तुलसी को क्या राम के इस उद्‌गार से कोई विरोध होगा ? विरोध नहीं होना चाहिए, क्योंकि यहाँ राम कोई ऐसी बात नहीं कह रहे हैं जो उनके चरित्र से विकसित नहीं की जा सकती। काव्य में कल्पना और सत्य, इसी प्रकार, मिल कर काम करते हैं। कवि की कल्पना, चाहे जितनी भी उड़ान ले, वह इतिहास के मूल-तथ्यों से दूर नहीं जाती।

इस प्रसंग में एक और समीचीन उदाहरण भीष्म का है। भीष्म सेनापति तो दुर्योधन के थे, किन्तु, अपनी मृत्यु का भेद उन्होंने युधिष्ठिर को बता दिया। आज के युग में उनका यह आचरण चिंत्य-सा लगता है। अपने कुरुक्षेत्र काव्य में भीष्म से मैंने इस आचरण के लिए विलाप करवाया है। कुरुक्षेत्र के भीष्म स्वीकार करते हैं कि जिस दिन मैंने ब्रह्मचर्य का प्रण लिया, उस दिन मैंने अपने जीवन का नियंत्रण, मानों, भावनाओं के हाथों से छीन कर केवल बुद्धि के हाथ में रख दिया। किन्तु, बुद्धि भावना की अपेक्षा दुर्बल शक्ति है। कुरुक्षेत्र में आ कर मुझे दिखायी पड़ा कि पाण्डवों पर मेरी जो प्रीति है, वह दबायी नहीं जा सकती। अतएव, बुद्धि हार गयी और भावना ने मुझे इस बात के लिए विवश कर दिया कि अपनी मृत्यु का भेद मैं पाण्डवों को बता दूँ।

इस प्रकरण को पढ़ कर श्री संपूर्णानन्दजी ने मुझे लिखा "मालूम होता है, इस भीष्म का भी अस्तित्व रहा होगा और महाभारत के भीष्म को वह कुरेदता भी होगा। किन्तु, आज तक उसे किसी ने देखा नहीं था।"

काव्य में ऐसी सभी कल्पानाएँ स्तुत्य हैं जो हमारी संभावना की वृत्ति को संतुष्ट करती हैं। जहाँ संभावना सन्तुष्ट है, वहाँ इतिहास की ओर से उठायी गयी आपत्ति स्वयमेव खंडित हो जाती है। काव्य की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि जो घटनाएँ घटी हैं, वे संभव थीं या नहीं। ऐसी स्वतंत्रता प्रत्येक सफल काव्य लेता है, क्योंकि उसका काम, एक युग के भीतर से, अनेक युगों तक और, एक व्यक्ति के द्वारा, अनेक व्यक्तियों तक गमन करना है। किन्तु,

इस स्वतंत्रता की इतिहास को आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वह उसी युग तक सीमित है जिस युग को ले कर वह काम कर रहा है।

११ अगस्त, १९६० }

देशभाषा ही क्यों ?

दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का मैं आभारी हूँ कि उसके सदस्यों ने मुझे इस सम्मेलन के सभापतित्व के योग्य समझा और यह अवसर प्रदान किया कि देश की भाषा-विषयक समस्या पर मैं अपने विचार आपको, और आपके इस मंच से, सारे देश को सुना सकूं।

हिन्दी का विरोध देश के लिए नयी बात है, किन्तु, हिन्दी भारत की राष्ट्र-भाषा हो, यह बात नयी नहीं है। सच पूछिये तो यह प्रस्ताव उतना ही पुराना है जितनी पुरानी भारत की राष्ट्रीयता मानी जा सकती है। अभिनव भारत का जन्म बंगाल में हुआ था क्योंकि यूरोपीय विचारों से इस देश का सघन संपर्क पहले बंगाल में ही हुआ और भारतीय राष्ट्रीयता को जन्म देनेवाले हमारे अधिकांश महापुरुष भी उसी प्रान्त में उत्पन्न हुए। इन महापुरुषों का विचार था कि भारत के लिए भारत का प्राचीन ज्ञान और यूरोप की नयी विद्याएँ, दोनों ही आवश्यक हैं। अतएव, उनका जोर भारतीय भाषाओं के साथ-साथ अँगरेजी पर भी था। किन्तु, वे अत्यन्त दूरदर्शी पुरुष थे एवं उन्होंने जिस स्वाधीन भारत की कल्पना की थी उसकी भाषा वे अँगरेजी नहीं रखना चाहते थे। इसीलिए, आरंभ से ही, वे इस बात पर भी जोर देते रहे कि हमें देश की किसी एक भाषा का विकास, इस दृष्टि से भी, करना चाहिए कि,समय आने पर, वह भारत की अन्तःप्रान्तीय भाषा का स्थान ले सके।

रवीन्द्र और शरत् तब तक मैदान में नहीं आये थे, किन्तु, बंकिमचंद्र, द्विजेन्द्र-लाल और माइकेल मधुसूदनदत्त, कदाचित्, उस समय भी विद्यमान थे। फिर भी, बंगाल के महापुरुषों ने भारत के भावी राष्ट्रभाषा-पद के लिए बँगला नहीं, हिन्दी की सिफारिश की, क्योंकि हिन्दी-भाषियों की संख्या विशाल थी, क्योंकि भारत के तीर्थ-स्थानों में हिन्दी उस समय भी अन्तःप्रान्तीय भाषा का काम देती थी, क्योंकि सारे देश में पर्यटन करने वाले साधु-सन्त उस समय भी हिन्दी में प्रवचन करते और उपदेश देते थे तथा दिल्ली के उजड़ जाने से वहाँ के व्यापारी जब बिखर कर सारे देश में फैलने लगे,तब उनके साथ हिन्दी भी हिन्दीतर प्रान्तों में अनायास पहुँचती जा रही थी।

सब से पहले यह विचार, शायद, बंकिम बाबू के मन में आया था। फिर स्वामी दयानन्द जब कलकत्ते गये, तब श्री केशवचन्द्र सेन ने उन्हें यह सलाह दी कि 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना वे संस्कृत में न करके हिन्दी में करें। और बिहार में जब यह आन्दोलन उठा कि कचहरियों की भाषा के रूप में हिन्दी को भी मान्यता मिलनी चाहिए, तब इस आन्दोलन के सब से प्रबल समर्थक श्री भूदेव मुखर्जी हुए जो उन दिनों स्कूलों के इन्स्पेक्टर के पद पर काम कर रहे थे। इसी प्रकार, सभी भाषाएँ देवनागरी में लिखी जायँ, इस आन्दोलन का भी सूत्रपात बंगाल में ही हुआ। जस्टिस शारदाचरण मित्र बंगाली थे जिन्होंने देश में देवनागरी का व्यापक प्रचार करने के लिए "देवनागर" पत्र निकाला था।

और हिन्दी-समर्थकों की यह सरणी बंगाल में ही अथवा श्री भूदेव मुखर्जी तक ही नहीं रुकी। वह राममोहन राय से ले कर अद्यतन विचारकों तक अक्षुण्ण चली आयी है और उस सरणी में उन नेताओं एवं विद्वानों के नाम भी अत्यंत प्रमुख हैं जो, प्रायः, तीस वर्षों तक हिन्दी-प्रचार में निश्छल योग-दान देने के बाद अब, साल दो साल से, हिन्दी का विरोध कर रहे हैं। डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी का सारा जीवन उस दलील का युक्तियुक्त खंडन है जो आज उनके मुख से निकल रही है। इसी प्रकार, पूज्यवर राजाजी आज जो कुछ कह रहे हैं वह उस बात के ठीक विपरीत है जो पिछले तीस वर्षों से वे कहते आये थे।

राजाजी हिन्दी-आन्दोलन के मुख्य स्तम्भ के रूप में सदा से पूजित रहे हैं। आरम्भ से ही दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा को उनका कुशल नेतृत्व प्राप्त रहा और सभा ने उनके नेतृत्व में भारी उन्नति भी की। सन् १९२८ ई० में सभा की एक पाठ्य-पुस्तक की भूमिका लिखते हुए उन्होंने हमारे दक्षिणवासी देश-बन्धुओं को यह सलाह दी थी कि "जनता की भाषा एक और शासन की भाषा दूसरी होने से जनता संसद तथा विधान-सभाओं के सदस्यों पर समुचित नियंत्रण नहीं रख सकेगी, इसलिए, उचित यही है कि हम अपनी सुविधा के लोभ में आकर अँगरेजी के लिए दुराग्रह न करें। यदि अँगरेजी शासन की भाषा बनी रही तो इससे देश का स्वराज्य अधूरा रहेगा।" फिर, जब सन् १९३७ ई० में वे मद्रास के मुख्य मंत्री हुए तब उन्होंने हिन्दी-विरोधियों से काफी कड़ाई का बर्ताव किया। यहाँ तक कि अभी दो साल पूर्व "प्रजातंत्र" पर उनकी जो छोटी-सी पुस्तक निकली उसमें भी उन्होंने हिन्दी की हिमायत की है और

जोरदार शब्दों में यह विश्वास प्रकट किया है कि हिन्दी इस देश की राष्ट्रभाषा हो कर रहेगी।

अतएव, राजाजी जो कुछ कह रहे हैं वह हिन्दी का विरोध नहीं, प्रत्युत, देश के ध्यान को उन शंकाओं पर केन्द्रित करने का प्रयास है जो शंकाएँ हिन्दी के विरुद्ध कुछ अहिन्दी-भाषियों के मन में जाग उठी हैं। यदि मेरा अनुमान सही है तो इन शंकाओं को निर्मूल करने का उपाय आन्दोलन नहीं, शान्ति और सद्भाव है, संख्याबल का प्रदर्शन नहीं, प्रत्युत्, यह मनोवृत्ति है कि देश की अहिन्दी-भाषी जनता, बहुमत से, हिन्दी के बारे में जो निर्णय करेगी वह हिन्दीवालों को भी मान्य होगा। राजभाषा-आयोग के हिन्दी-भाषी सदस्यों ने यही नीति बरती थी। उक्त आयोग के अधिवेशनों में कभी भी ऐसा अवसर नहीं आया जब हिन्दी-भाषी एवं अहिन्दी-भाषी सदस्यों के बीच मतभेद हुआ हो। आयोग में हमारा यह भाव, आदि से ले कर अन्त तक, कायम रहा कि अहिन्दी-भाषी सदस्यों के मतों के विरुद्ध हमारा अपना कोई मत नहीं है। अहिन्दी-भाषी सदस्य, बहुमत से, जो निर्णय करेंगे, हिन्दी-भाषी सदस्य उसे ही अपना निर्णय मान लेंगे। मेरा ख्याल है, इसी नीति का यह सुपरिणाम निकला कि आयोग के बीस सदस्यों में से वैमत्य केवल दो सदस्यों ने दिया। मैं आशा करता हूँ कि आगे भी हम हिन्दी-भाषी लोग इसी उदारता से काम लेंगे, क्योंकि हिन्दी हमारे आन्दोलन से जयपुर, पटने, लखनऊ और भूपाल में भले ही चल जाय, किन्तु, अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में तो वह तभी चलेगी जब वहाँ के लोग स्वेच्छा से उसे स्वीकार करेंगे और स्वेच्छया वे उसे सीखने को तैयार होंगे। अहिन्दी प्रान्तों में हिन्दी आज भी अँगरेजी की अपेक्षा अधिक प्रचलित है, जिसका एक कारण तो यह है कि हिन्दी आसानी से फैल सकती है, क़िन्तु, एक दूसरा बड़ा कारण यह भी है कि अहिन्दी-भाषी भारतीयों ने उसे अपनी इच्छा से अपनाया है।

पहले हिन्दी का विरोध यह कह कर किया जाता था कि हिन्दी यदि बढ़ी तो वह देश की हिन्दीतर भाषाओं को दबा देगी। किन्तु, अब जो नक्शा सामने आया है, उसमें किसी भी भाषा के दबने अथवा अविकसित रहने की कोई आशंका दिखायी नहीं देती। उलटे, जो देश-भाषाएँ अभी अविकसित पड़ी हैं, हिन्दी के प्रसार के साथ उनका भी त्वरित विकास होने वाला है, क्योंकि हिन्दी का आन्दोलन देश की सभी भाषाओं का आन्दोलन है। हिन्दी यदि बढ़ी तो सभी

भाषाएँ बढ़ेंगी। हिन्दी यदि रोक दी गयी तो देश की बहुत-सी भाषाएँ अवरुद्ध रह जायेंगी। अँगरेजी के हटने पर जो स्थान रिक्त होगा, वह सब-का-सब हिन्दी को नहीं मिलेगा। हिन्दी का प्रयोग तो हम केवल केन्द्र में करेंगे, अपने अन्तः-प्रान्तीय व्यवहार के लिए करेंगे। किन्तु, राज्यों में शिक्षा और शासन के जो अनन्त कार्य हैं, उनका माध्यम उन राज्यों की मातृभाषाएँ होंगी। "प्रत्येक के लिए अपनी मातृभाषा और सब के लिए हिन्दी", इस नक्शे के साफ हो जाने से प्रत्येक भाषा-क्षेत्र में आशा और उत्साह का संचार होने लगा है जो हमारे शुभोदय का संकेत है। हमें इस आन्दोलन का बढ़ कर साथ देना चाहिए, क्योंकि इस आन्दोलन की प्रगति से अँगरेजी के पाँव उखड़ते हैं और हिन्दी के विरुद्ध काम करने वाली शंकाओं का उन्मूलन होता है।

किन्तु, हिन्दी-विरोधियों ने जब यह देखा कि हिन्दीतर भाषाएँ अब हिन्दी के विरुद्ध भड़कायी नहीं जा सकतीं, तब उन्होंने अँगरेजी का गुण गाना आरम्भ किया। अब वे यह तर्क देने लगे हैं कि अँगरेजी को यदि हमने छोड़ दिया तो शिक्षा और शासन के क्षेत्रों में हमारी प्रगति का अवरोध हो जायगा। ऐसे तर्क, कभी-कभी, हिन्दी प्रान्तों में भी सुनायी देते हैं, किन्तु, उनका सब से अधिक प्रयोग बंगाल और तमिलनाड के नेताओं ने किया है। लेकिन, इन तर्कों के जो सही जवाब हैं वे इन नेताओं को अपने ही प्रान्तों में मिल गये, क्योंकि बंगाल और तमिलनाड की जनता ने इस बात को नहीं माना कि अँगरेजी के निकल जाने पर देश अवनति के मार्ग पर जा गिरेगा। इन दोनों प्रान्तों ने कानून पास करके यह निश्चय कर लिया है कि बंगाल में शिक्षा और शासन की भाषा बँगला और तमिलनाड में तमिल होगी।

भारत क्रान्ति के मार्ग पर आरूढ़ है और उसकी सब से बड़ी क्रान्ति, शायद, भाषा के ही क्षेत्र में घटित हो रही है। सन् १९४७ ई० में हमें जो स्वराज्य मिला वह केवल तन का स्वराज्य था। अँगरेजी को अपदस्थ करके देश अपने मन का स्वराज्य हासिल करना चाहता है। सन् सैंतालीस में जो स्वराज्य आया, वह भारत के राजनगरों में अटक गया है; देशभाषाओं को शिक्षा और शासन की भाषा बना कर हम उस स्वराज्य को गाँवों और खेत-खलिहानों तक ले जाना चाहते हैं। लेकित, दुर्भाग्य की बात है कि स्वराज्य लिया था गाँधी और जवाहरलाल ने, किन्तु, स्वराज्य होते ही, शिक्षा और संस्कृति के नेता वे लोग बन पड़े जो मन से इंग्लैंड के निवासी रहे हैं। अँगरेजी की जगह पर

भारतीय भाषाओं को बिठा कर हम संसार को यह दिखाना चाहते हैं कि जो भारतवासी इंग्लैंड के मानसिक उपनिवेश में रहने के आदी हैं, उनका इस देश में कोई प्रभाव नहीं है, देश आज भी गाँधी, विनोबा और जवाहरलाल के साथ है। भारतीय भाषाएँ बड़े जोर से ऊपर आ रही हैं। भागीरथी के इस महाप्रवाह को रोकने के लिए जो भी अँगरेजी के तरफदार आगे आयेंगे, उनका वही हाल होने वाला है जो ऐरावत का हुआ था।

और भारतीय भाषाओं का यह जागरण कोई आकस्मिक घटना नहीं है। इस जागरण का स्वप्न केशवचन्द्र और विवेकानन्द ने देखा था, यह जागरण दयानन्द और तिलक की कल्पना में साकार हुआ था तथा उसकी सारी रूपरेखाएँ महात्मा गाँधी को ज्ञात थीं। जनता में जागृति फैला कर हम, वास्तव में, उस की भावना और वाणी को ही जगा रहे थे और स्वराज्य का आह्वान करके हम, व्याजान्तर से, भारत की भाषाओं का भी आह्वान कर रहे थे। जिस महाक्रान्ति का आह्वान हम पिछली शताब्दी से करते आ रहे थे, उसका शारीरिक रूप सन् सैंतालीस में हमें प्राप्त हो गया। भाषाओं के जागरण के रूप में अब उसी प्रतिमा में प्राण प्रवेश करना चाहते हैं। क्योंकि जनता को उसकी भाषा नहीं मिली तो स्वराज्य निष्प्राण रहेगा; क्योंकि जनता को उसकी भाषा नहीं मिली तो शासन इस देश पर जनता नहीं, प्रत्युत्, उन मुट्ठी भर सुखी लोगों का चलता रहेगा जो आज भी अपने बच्चों को अँगरेजी की अच्छी शिक्षा दिलवा सकते हैं।

किन्तु, कुछ ज्ञान-गंभीर लोग भाषाओं के इस जागरण को भय की दृष्टि से देखते हैं। उन्हें शंका होती है कि इससे कहीं देश की एकता में विघ्न न उत्पन्न हो जाय। स्पष्ट ही, ये शंकाएँ इस अनुमान पर उठायी जाती हैं कि लोग अपनी-अपनी भाषाएँ तो सीखेंगे, किन्तु, उसी तेज़ी से वे हिन्दी की शिक्षा नहीं लेंगे। किन्तु, ये शंकाएँ गलत हैं और जो लोग भाषाओं के जागरण से भयभीत हो रहे हैं वे उस कुमारी बालिका कुन्ती के समान हैं जिसने, कौतूहलवश, सूर्य को बुला तो लिया था, किन्तु, जब सूर्य उतर कर उसके पास आये तब वह भय से काँपने लगी। किन्तु, सूर्य का आना व्यर्थ नहीं हुआ। उसी प्रकार, भारतीय भाषाओं में जो महाजागरण आ रहा है उसे रोका नहीं जा सकता। सरकारों के सामने अब अनेक विकल्प नहीं हैं। उनका परम कर्त्तव्य है कि क्षेत्रीय भाषाओं की शिक्षा के साथ-साथ वे, हर कदम पर, हिन्दी शिक्षण का भी समुचित प्रबन्ध करती जायँ।

भारत की भाषा-विषयक क्रान्ति अब विराम नहीं ले सकती। बुद्धिमानी की राह केवल एक है कि जनता और सरकारें इस क्रान्ति के कदम से कदम मिला कर तेज़ी से चलना आरम्भ कर दें। पिछले दस वर्षों के स्वशासन से यदि कोई एक शिक्षा निकलती है तो वह यह है कि भारतवर्ष में आज मिनिस्ट्री और अफसरी की गद्दी जीने नहीं, मरने की जगह मानी जानी चाहिए। इन गद्दियों पर बैठ कर जो लोग अपनी कुर्बानी देंगे, वे ही भारत देश को बचा सकेंगे। इसके विपरीत, इन गद्दियों पर जो लोग जीने के उद्देश्य से बैठते हैं, उनके हाथों यह देश संकट की तरफ ढकेला जायगा। देश की एकता को खतरा भाषाओं के जागरण से नहीं, बल्कि, सरकारों के आलस्य से है। स्वाधीनता के आगमन के साथ देश की क्रान्तिकारी शक्तियाँ, एक के बाद एक, जगती जा रही हैं। उनके जागरण से उत्पन्न स्थितियों का सामना करने के लिए सरकारों को भी क्रान्तिकारी ढंग से काम करना चाहिए। खतरा तब होगा जब सरकारें आलस्य या दुविधा के कारण इन क्रान्तिकारी स्थितियों को सँभालने में असमर्थ हो जायेंगी।

और जो लोग आज भी अँगरेजी की रट लगाये जा रहे हैं, वे इस सीधी-सी बात को क्यों नहीं समझते कि अँगरेजी के पक्ष में पड़ने वाला वह मनोवैज्ञानिक वातावरण अब इस देश में नहीं रहा जो अँगरेजों के समय वर्त्तमान था? इस देश के नवयुवक अँगरेजी में वैसी दक्षता इसलिए प्राप्त कर लेते थे कि उनके अन्तर्मन में यह विश्वास समाया हुआ था कि अँगरेजी पर प्रभुत्व नहीं पाने से उनके आगेका भविष्य उज्ज्वल नहीं होगा। किन्तु, ज्यों-ज्यों मुक्ति-आन्दोलन की प्रगति होती गयी, युवकों का यह विश्वास भी कमजोर होता गया और आज तो वे, निश्चित रूप से, अपना भविष्य देशभाषाओं के भीतर से खोजना चाह रहे हैं। तो क्या हम उनसे यह कहने वाले हैं कि गुलामी के दिनों की अवस्था अब भी बरकरार रहेगी और आज भी उज्ज्वल भविष्य पर उन्हीं का एकाधिकार होगा जो देश की भाषाएँ भले ही न जानते हों, मगर, अँगरेजी में काफी तेज-तर्रार हैं? पता नहीं, ऐसी अन्याय-पूर्ण बात बोलने वाले लोग इस देश में कहीं हैं या नहीं, किन्तु, यदि वे, सचमुच ही, कहीं जीवित हों तो वैसे लोगों को इस देश के किसी भी भाग पर राज करने की अभिलाषा छोड़ देनी चाहिए।

हमारे बहुत-से शासक यह सोच कर भी देश-भाषाओं के प्रति उत्साह नहीं दिखाते कि देश-भाषाएँ यदि शासन की भाषा हो गयीं तो फाइलों में वे अच्छे नोट

न लिख सकेंगे। लेकिन, शासक-पद की शोभा क्या सुशोभन नोट लिखने में है ? शेरशाह और अकबर बड़े ही सफल शासक हुए हैं, किन्तु, वे नोट लिखना नहीं जानते थे। बहुत-से सेठ-साहूकार बहियों में महाजनी लिख कर ही करोड़ों का व्यापार सफलतापूर्वक संपन्न कर डालते हैं। और सब से सद्यः उदाहरण तो यह है कि काँग्रेस-सरकार के सब से बड़े कारगर मंत्री, स्वर्गीय रफी अहमद किदवई देश का शासन कलम से कम, टेलीफोन से अधिक चलाते थे। अच्छा अफसर होने के लिए अच्छी भाषा की जरूरत कम, अच्छे दिमाग और अच्छे चरित्र की आवश्यकता बहुत अधिक है। तब भी, भारतीय भाषाओं को यह कहकर टालते जाना कि वे अँगरेजी के समान लचीली नहीं हैं, अपने देश और अपनी भाषा के प्रति घोर अज्ञान का परिचय देना है।

मैं अन्य भाषाओं के विषय में अधिकार के साथ बोलने का साहस नहीं कर सकता। किन्तु, हिन्दी गद्य के हजार-दो-हजार पृष्ठ मैंने भी लिखे हैं और इन पृष्ठों में कहानियाँ नहीं लिख कर मैंने चिंतन किया है और, यदा-कदा, उन विषयों पर भी चिंतन किया है जो अन्तर्राष्ट्रीय चिंतन के विषय हैं। किन्तु, मुझे कभी भी यह एहसास नहीं हुआ कि हिन्दी में अभिव्यंजना-शक्ति का किंचित् भी अभाव है अथवा यह कि जो विचार अँगरेजी में आसानी से लिखे जा सकते हैं वे विचार हिन्दी में सुगमता से नहीं लिखे जा सकते। और मेरी गवाही यदि हिन्दी-भाषी होने के कारण पक्षपातपूर्ण मानी जाय तो मैं कहना चाहता हूँ कि विख्यात भाषाशास्त्री सर ज़ार्ज ग्रियर्सन की भी हिन्दी की अभिव्यंजना-शक्ति के विषय में ऐसी ही राय थी। अपने विपुल ग्रन्थ, "लिंग्विस्टिक सर्वे" की जिल्द ६, भाग १ में उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि "जिन बोलियों से हिन्दी की उत्पत्ति हुई है उनमें ऐसी विलक्षण शक्ति है कि वे किसी भी ऐसे विचार को पूरी सफाई के साथ अभिव्यक्त कर सकती हैं, जो विचार मनुष्य के मस्तिष्क में समा सकते हैं। और इन बोलियों में यह शक्ति आज उत्पन्न नहीं हुई, वह उनके भीतर पिछले पाँच सौ वर्षों से विद्यमान रही है तथा अभिव्यंजना की यह शक्ति किसी बाहरी सहायता से नहीं बढ़ी, बल्कि, यह उन बोलियों का अपना गुण है। हिन्दी के पास देशी शब्दों का अपार भंडार है और सूक्ष्म से सूक्ष्म विचारों को सम्यक् रूप से अभिव्यक्त करने के उसके साधन भी अपार हैं। इसके प्राचीन साहित्य में काव्य की ऊँची उड़ानों तथा एशिया में उत्पन्न धर्मों की श्रद्धा एवं भक्तिमयी अद्भुत

अभिव्यक्तियों के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। इसमें दर्शन और काव्य-सम्बन्धी ऐसे निबंध हैं जिनमें विषयों का प्रतिपादन, ठीक उसी बारीकी से, किया गया है जो बारीकी संस्कृत के लेखकों की विशेषता थी। किन्तु, यद्यपि, हिन्दी का शब्द-भंडार इतना विशाल और उसकी अभिव्यंजना-शक्ति ऐसी है जो अँगरेजी से, शायद ही, हीन कही जा सके, फिर भी, हाल के वर्षों में यह फैशन चल गया है कि लोग पुस्तकें इसलिए नहीं लिखते कि उन्हें उत्तर भारत की जनता पढ़ सके, बल्कि, इसलिए कि संस्कृत के विद्वानों के अपेक्षाकृत सीमित समुदाय के सामने वे अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करना चाहते हैं।"

वोट माँगना जनता की भाषा में और नोट लिखना अँगरेजी में, यह प्रचण्ड विरोधाभास है और इसके समाप्त हुए बिना सरकार और जनता के बीच की वह खाई दूर नहीं होगी जो आज प्रत्यक्ष दिखलायी दे रही है। इस कृत्रिम प्रबन्ध के कितने ही दोष हैं जिनसे हमारी प्रगति का अवरोध होता है। उदाहरण के लिए, यदि देशभाषाएँ शासन का माध्यम हो जायँ तो वे असिस्टेंट भी अपने विचारों को अधिक सफाई से व्यक्त कर सकेंगे जिनका अँगरेजी का ज्ञान अधूरा, किन्तु, अपनी भाषाओं का ज्ञान यथेष्ट है। इस स्थिति का एक और दोष अत्यन्त प्रत्यक्ष है जिसे विनोबाजी ने बड़ी ही सफाई से व्यक्त किया है। "आपके देश का कारोबार किस तरह चलता है, यह अमेरिका और इंग्लैंड के लोग घर में बैठ कर जान सकते हैं और आपके ही देश का किसान उसे नहीं जानता है। अपने देश का कारोबार दूसरे के सामने रखना, यह एक गलती है और अपने ही किसान से उसे छिपाना, यह भारी गलती है। हमें आश्चर्य होता है कि ऐसी सादी बात कैसे समझ में नहीं आती है।"

जहाँ तक विज्ञान का सम्बन्ध है, अँगरेजी के तरफदार इस विषय में भी देश को डरा रहे हैं कि यदि अँगरेजी हटी तो विज्ञान में हमारी तरक्की असंभव हो जायगी। किन्तु, मैं इस भय को अतिरंजित मानता हूँ। जहाँ तक गवेषणा, शोध-कार्य और उच्च विज्ञान का सम्बन्ध है, उसके लिए विदेशी भाषा हमारे लिए भी उतनी ही आवश्यक है जितनी आवश्यक वह संसार के अन्य देशों में मानी जाती है। और इसके लिए केवल अँगरेजी पर्याप्त भी नहीं है। विज्ञान की आज की भाषा अँगरेजी है, किन्तु, कल वह रूसी होने जा रही है। किन्तु, सामान्य विज्ञान की भी शिक्षा अँगरेजी में दे कर हम देश का क्या उपकार करना चाहते हैं, यह बात

मेरी समझ में नहीं आती। यदि विज्ञान की शिक्षा केवल अँगरेजी में दी जायगी तो विज्ञान उन्हीं लोगों तक सीमित रह जायगा जो उसका अध्ययन करेंगे। इसके विपरीत, यदि विज्ञान मातृभाषा द्वारा पढ़ाया जायगा तो विज्ञान के संस्कार सारी जनता में फैल जायेंगे। विनोबाजी ने इस प्रसंग में विज्ञान की तुलना आत्मज्ञान से की है। भारत में आत्मज्ञान का सारा चिन्तन संस्कृत में किया गया था और सदियों तक वह संस्कृत में ही कैद रहा एवं स्त्रियाँ और शूद्र उस विद्या से वंचित रखे गये। तब बुद्धादि संतों की परंपरा आरम्भ हुई। उन्होंने संस्कृत में संचित ज्ञान को जनभाषाओं में उतार दिया। परिणाम यह हुआ कि आत्मज्ञान का संस्कार इस देश के अशिक्षितों में भी फैल गया। विनोबाजी ने बहुत ठीक कहा है कि "विज्ञान का सम्बन्ध अगर मातृभाषा से नहीं होगा तो विज्ञान सीखने वाल के दिमाग में ही विज्ञान खत्म हो जायगा।"

और देशभाषा की माँग हम केवल इसीलिए नहीं करते कि उसके आने से हमारा राजकाज सुविधापूर्ण हो जायगा। सच तो यह है कि देशभाषाओं का प्रचलन हुए बिना भारतवर्ष अपने युग-संचित संदेशों की पूर्णाभिव्यक्ति नहीं कर सकेगा, न वह चिन्तन की भारतीय परम्परा को कायम रख सकेगा। स्वराज्य की सारी प्रेरणाएँ राजनीतिक और आर्थिक नहीं थीं। उनका बहुत बड़ा भाग सांस्कृतिक था। जो लोग यह सोचते हैं कि भारत के समग्र ज्ञान का अँगरेजी में अनुवाद करके हम भारतवर्ष की विशेषता को बचा लेंगे, वे घोर भ्रान्ति में हैं। एक देश का ज्ञान दूसरे देश की भाषा में उतारा जा सकता है, किन्तु, एक देश की चिन्तन-पद्धति दूसरे देश की भाषा में ढाली नहीं जा सकती। साहित्य दो प्रकार का होता है। इतिहास, भूगोल और विज्ञान, ये ज्ञान के साहित्य हैं और ज्ञान के साहित्य का अनुवाद मजे में किया जा सकता है। किन्तु, कविता, नाटक, उपन्यास और रहस्यवादी दर्शन, ये शक्ति के साहित्य के अन्दर आते हैं और शक्ति के साहित्य का एक से दूसरी भाषा में अनुवाद अत्यन्त कठिन होता है।

यही नहीं, प्रत्युत्, ज्ञान का साहित्य हम ऐसी किसी भी भाषा में लिख सकते हैं जिस पर हमारा थोड़ा-बहुत अधिकार हो। किन्तु, शक्ति का साहित्य हम मातृभाषा अथवा देशभाषा को छोड़ कर किसी विदेशी भाषा में लिख ही नहीं सकते। यह ठीक है कि बहुत-से भारतीय लेखकों और कवियों ने अँगरेजी में कविता लिखने का भरपूर प्रयास किया है, किन्तु, ऐसे सारे प्रयास व्यर्थ हुए हैं,

यह भी उतना ही ठीक है । तोरूदत्त, सरोजनी नायडू और हरीन्द्रनाथ चट्टो-पाध्याय में कविता लिखने की अच्छी शक्ति थी, किन्तु, उनकी कविताएँ न तो भारतीय मानवता के पल्ले पड़ीं, न इंग्लैण्ड के आलोचकों और साहित्य-मर्मज्ञों ने उनका सम्मान किया । इंग्लैण्ड में संपादित आज तक ऐसा एक भी काव्य-संग्रह न निकला जिसमें इन कवियों की एक भी कविता,अँगरेजी की प्रतिनिधि कविता के रूप में, संकलित की गयी हो । और इस प्रसंग में हम अँगरेजी साहित्य के मर्मज्ञों पर संकीर्णता का दोष भी नहीं मढ़ सकते,क्योंकि अँगरेजी शब्दों के साथ जो विशेष प्रकार का सौरभ, विशेष प्रकार के विम्ब और सूक्ष्म छायाएँ लिपटी होती हैं,उन्हें वही व्यक्ति समझ सकता है जिसकी मातृभाषा अँगरेजी हो,ठीक उसी प्रकार, जैसे भारतीय शब्दों की बारीकियों और सूक्ष्म छायाओं का ज्ञान अभारतीय विद्वानों को नहीं हो सकता । कविता साहित्य-मन्दिर का गर्भ-भाग है, वह हृदय के निगूढ़तम भावों की भाषा है । इसीलिए, सच्ची कविता की रचना उसी भाषा में संभव है जो भाषा केवल हमारे मस्तिष्क में ही नहीं, हृदय के अन्तरतम में भी व्याप्त हो ।

सब से बड़े विलाप की वात तो यह है कि इस युग के योगिराज श्री अरविन्द ने अपनी साधनाओं का महाकाव्य अँगरेजी में लिखा । उनके सावित्री महाकाव्य पर अब तक जो प्रतिक्रिया देखने में आयी है, उससे तो यही प्रतीत होता है कि इस काव्य का भी वही हाल होने वाला है जो तोरूदत्त और सरोजनी नायडू की कविताओं का हुआ । किन्तु, इस काव्य की रचना यदि बँगला में की गयी होती तो आज अरविन्द की आध्यात्मिक प्रेरणाओं के ज्वार हमारी अनेक देश-भाषाओं में पहुँच गये होते ।

विदेशी भाषा में शक्ति के साहित्य की रचना वही लेखक करने जाता है जिसका उद्देश्य विदेश से तथाकथित सुयश अर्जित करके अपने देशवासियों को चमत्कृत करना होता है । किन्तु,इस उद्देश्य में सफलता अबतक किसी भी भारतीय लेखक को नहीं मिली । अब तक के सारे प्रमाणों से जो बात सामने आती है वह यह है कि ऐसा साहित्य न तो घर का होता है, न घाट का । इसके विपरीत, उन लेखकों और कवियों को देखिये जिन्होंने अपनी सारी कारयित्री प्रतिभा को अपनी भाषा पर केन्द्रित कर दिया । इन लेखकों की रचनाएँ अनूदित हो कर बाहर भी फैलीं और उनसे सभी भारतीय भाषाओं का भी कल्याण हुआ । लोकमान्य

बालगंगाधर तिलक ने कर्मयोगशास्त्र की रचना मराठी में की थी, किन्तु, उनके प्रवृत्ति-मार्गी विचार भारत की सभी भाषाओं में फैल गये। माइकेल मधुसूदन-दत्त और कविगुरु रवीन्द्रनाथ ने काम तो, मूलतः, बँगला में किया, किन्तु, उनकी प्रेरणाओं ने सभी भारतीय भाषाओं में उद्वेलन भर दिया।

इसीलिए, मैं मानता हूँ कि भारतवर्ष की एक भाषा का कवि और कलाकार, उसकी सभी भाषाओं का कवि और कलाकार होता है। जब भी भारत की किसी एक भाषा में कोई प्रबल प्रतिभा प्रकट होती है, उसकी किरणें सभी भाषाओं में फैल जाती हैं। किन्तु, यही बात अँगरेजी के विषय में नहीं कही जा सकती। वह बाहरी भाषा है और बाहरी भाषा में अन्तःपुर के भावों के कथन का, स्वयं प्रकृति की ओर से, निषेध है।

इसके विपरीत, भारत की सभी भाषाएँ भारत-राष्ट्र के अन्तःपुर की भाषाएँ हैं। वे गिनती में, यद्यपि, अनेक हैं, किन्तु, उन सब के भीतर भारत का एक ही हृदय स्पन्दित होता है, भारत का एक ही मस्तिष्क चिन्तन और विचार करता है। हमारी ये अनेक भाषाएँ अनेक छन्दों के समान हैं, किन्तु, इन अनेक छन्दों में लिखी जाने वाली कविता एक है जो भारत की आत्मा की कविता है, जो कावेरी, कृष्णा, गंगा और ब्रह्मपुत्र का जलस्रोत है। अनन्तकाल से वेद, उपनिषद् और पुराण इन सभी भाषाओं के उपजीव्य रहे हैं और अनन्त काल से ये सभी भाषाएँ संस्कृति के एक ही घाट पर पानी पीती आयी हैं, जो व्यास और वाल्मीकि का घाट है।

समग्र भारतवर्ष की साहित्य-वाटिका एक है। ये अनेक भाषाएँ उसी वाटिका की अनेक क्यारियाँ हैं। और विशेषता की बात यह है कि इनमें से प्रत्येक क्यारी का जल, बड़ी ही सुगमता से, बह कर अन्य क्यारियों में चला जाता है। अभी-अभी मैंने तिलक और रवीन्द्रनाथ का नामोल्लेख किया है। किन्तु, पहले भी ऐसे कवि और चिंतक हुए हैं जिनकी वाणी का प्रभाव एक भाषा तक सीमित नहीं रहा। भक्ति का गान पहले तमिल भाषा में आलवार सन्तों ने गाया था। कालक्रम में वह गान सारे भारत में लहरें उत्पन्न करने लगा। शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क और वल्लभाचार्य जन्म से दक्षिण भारतीय थे, किन्तु, उनके उपदेशों और अनुभूतियों ने देश की सभी भाषाओं में जागरण उत्पन्न कर दिया। भारतीय भाषाओं के भीतर एक प्रकार की मौलिक एकता है जो

सहज, स्वाभाविक एवं निसर्ग-सिद्ध है। भारतीय भाषाओं में जो जागरण आया है उससे हमारी भावनात्मक एकता में वृद्धि होगी।

नयी दिल्ली
४ अक्तूबर, १९५८

पुनश्च

पंजाब और असम में जो कुछ हो रहा है, उसे देख कर देश चिंतित होने लगा है। किन्तु, पंजाब और असम में क्या भाषाएँ लड़ रही हैं अथवा ये लड़ाइयाँ राजनीति की हैं और राजनीति ने अपना काला मुँह छिपाने के लिए भाषा का चेहरा पहन लिया है? भाषा-जागरण के भीतर बहुत बड़ी शक्ति होती है। राजनीति उस शक्ति का शोषण कर रही है, लेकिन, यह शोषण ज्यादा दिन नहीं चलेगा।

भाषा-जागरण से तो देश की भावनात्मक एकता में वृद्धि ही हो रही है। आज देश में ऐसे मंचों की संख्या पहले से अधिक है जहाँ जमा हो कर विभिन्न भाषाओं के साहित्यकार परस्पर परिचय बढ़ाते हैं और मिल कर देश की भाषागत एकता को मजबूत बनाने की बात सोचते हैं। प्रायः प्रत्येक भाषा के पत्र अब अन्य भाषाओं के बारे में परिचयात्मक निबन्ध छापने लगे हैं और एक से अन्य भारतीय भाषा में अनुवाद का सिलसिला भी जोर पकड़ने लगा है। पहले तिलक, रवीन्द्रनाथ, शरत् और प्रेमचंद्र, ये ही चार-पाँच नाम थे जो अखिल भारतीय क्षितिज पर दिखायी देते थे। अब ऐसे नामों की संख्या पंद्रह-बीस से कम नहीं होगी। साथ ही, देवनागरी लिपि को सभी भाषाओं की वैकल्पिक लिपि मानने की दिशा में भी राष्ट्र की चेतना कुछ अधिक प्रबुद्ध हो रही है। ये इस बात के प्रमाण हैं कि भाषाओं के जागरण से देश का बल बढ़नेवाला है।

४-१२-६०

उदयाचल का नया पता
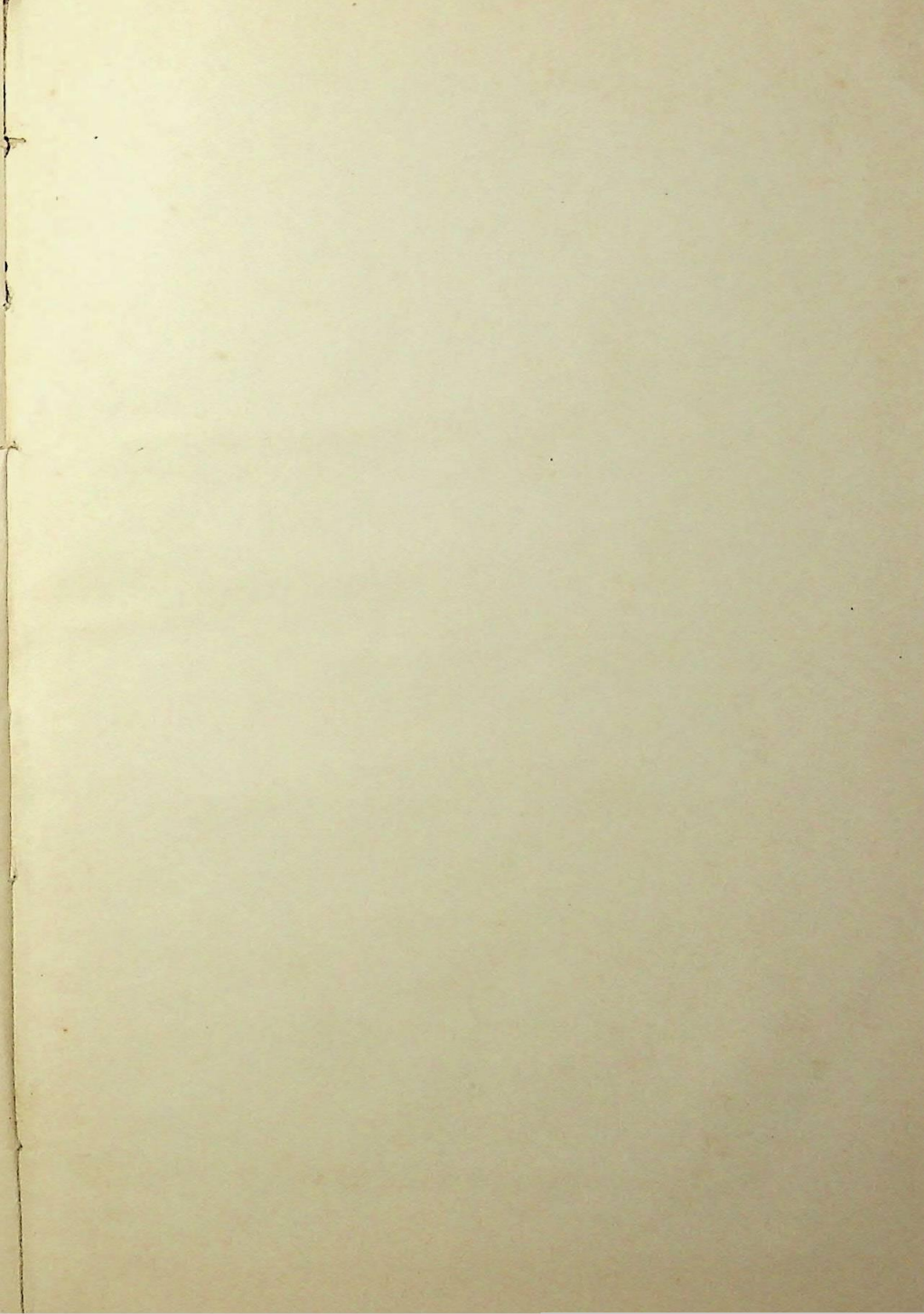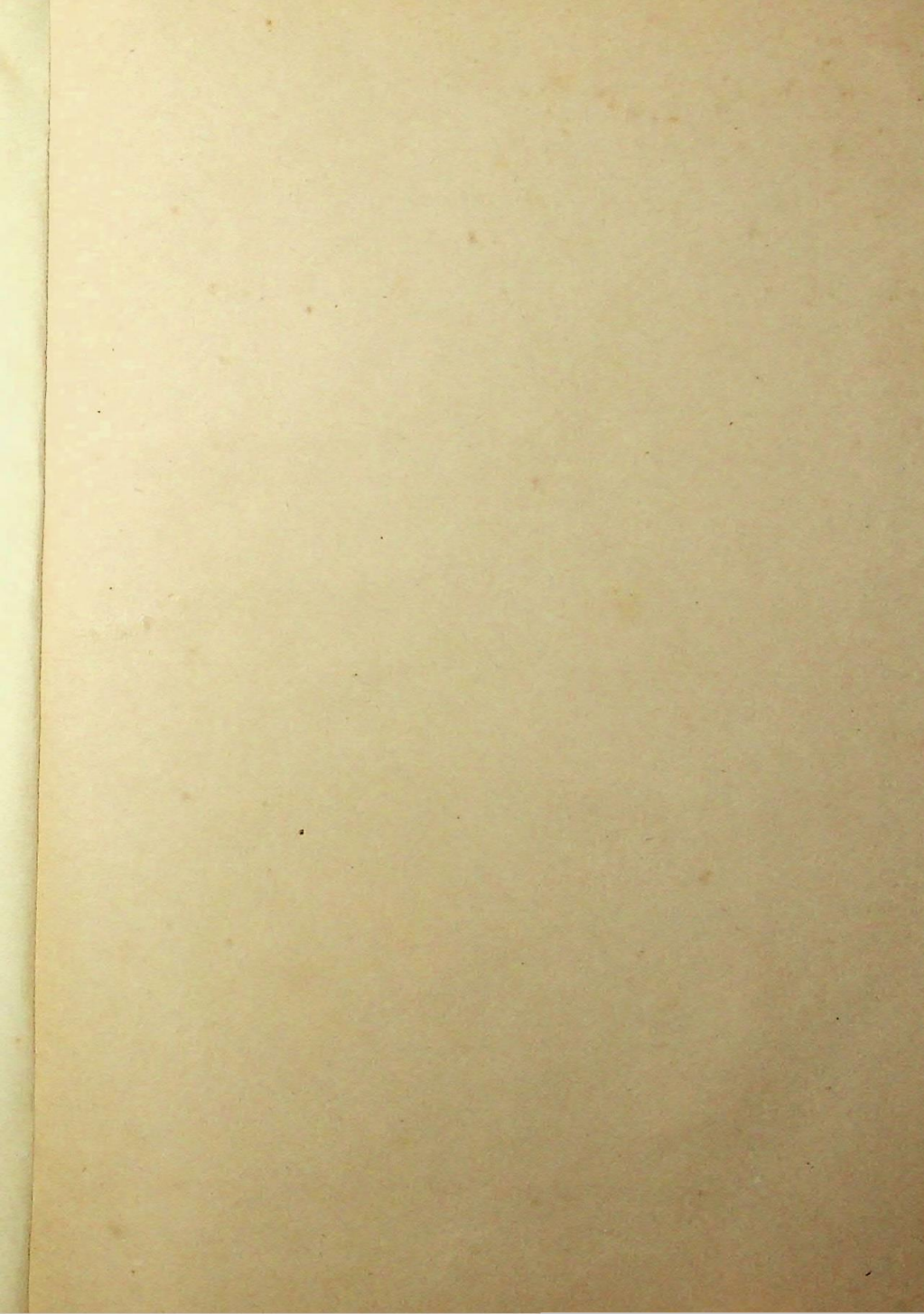
पटने में उदयाचल प्रकाशन का कार्यालय इधर एक साल से अशोक राजपथ पर कुल्हड़िया हाउस में अवस्थित था। वह अब वहाँ से उठ कर राजेन्द्र नगर चला गया है। उदयाचल का कार्यालय **राजेन्द्र नगर में ब्लाक नंबर एक के स्टाल नंबर १४ में अवस्थित है।** आप भाइयों में से जो भाई कृपा करके दूकान पर पधारना चाहें उन्हें अब राजेन्द्र नगर ही पधारना चाहिए।

दिनकरजी की नई पुस्तकें

१.	आत्मा की आँखें	(काव्य)	४)
२.	कोयला और कवित्व	(,,)	३॥)
३.	मृत्ति-तिलक	(,,)	२)
४.	दिनकर की सूक्तियाँ	(,,)	२॥)
५.	उर्वशी (द्वितीय संस्करण)	(,,)	६)

बाल-साहित्य

१.	मिर्च का मजा	१)
२.	सूरज का ब्याह	१)
३.	चित्तौड़ का साका	१॥)

पत्राचार का पताः—

उदयाचल

राजेन्द्रनगर

पटना-४

निवेदक

केदारनाथ सिंह

अध्यक्ष

उदयाचल